इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK 003
दर्शन : न्याय, वेदान्त, सांख्य और मीमांसा

खंड

5

अर्थसंग्रह (लौगाक्षिभास्कर)

खंड परिचय – खंड 5 अर्थसंग्रह (लौगाक्षिभास्कर)

पाठ्यक्रम का अंतिम और पांचवां खंड अर्थसंग्रह (लौगक्षिभास्कर) है। इस खंड में तीन इकाईयाँ हैं। इस खंड की इकाईयों में धर्म, वेद की अपौरुषेयता एवं विधि भावना तथा मन्त्र, नामधेय, निषेध, नियम, परिसंख्या, अपूर्व, प्रयोग एवं अधिकारादि विभिन्न दर्शन पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। मूल ग्रंथभाग, कारिकाएं तथा उद्धरणादि को व्याख्या एवं विशेष विवेचन सहित प्रदान किया गया है ताकि विद्यार्थी सहजता से विषय को जान सकें। प्रतिपाद्य विषयों की पारिभाषिक शब्दावली को व्याख्या सहित दिया गया है। सहायक ग्रंथसूची से भी छात्रों को सहायता प्राप्त होगी। इकाई संयोजना इस प्रकार है :

इकाई 24 धर्म, भावना, वेद की अपौरुषेयता एवं विधि

इकाई 25 मन्त्र, नामधेय निषेध एवं अर्थवाद

इकाई 26 अपूर्व, नियम, परिसंख्या, विनियोग, प्रयोग एवं अधिकार

इकाई 24 धर्म, भावना, वेद की अपौरुषेयता एवं विधि

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

- अर्थसंग्रह में प्रतिपादित धर्म के स्वरूप को जान सकेंगे।
- अर्थसंग्रह के अनुसार भावना के स्वरूप तथा उपयोगिता से परिचित हो सकेंगे।
- मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद की अपौरुषेयता को भलीभाँति जान सकेंगे; तथा
- वेद के प्रथम अंश विधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में षड्विध आस्तिक शृंखलाओं में कर्ममीमांसा नाम से विश्वविख्यात दर्शन मीमांसा दर्शन है। यह दर्शन अन्य दर्शनों के समान सृष्टि, ईश्वर, जीवादि में ही सिमट कर नहीं रह गया अपितु अपने मौलिक विचारों के साथ भारतीय दर्शन में एक विशेष स्थान को प्राप्त करता है। दृशिर् प्रेक्षणे धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर भावार्थ में 'दृश्यते ज्ञायते यत् तद्दर्शनम्' व्युत्पत्ति के साथ निष्पन्न होता है तथा कर्मार्थ में 'दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनम्' व्युत्पत्ति के साथ निष्पन्न होता है। दर्शन यथार्थ का ज्ञान कराने हेतु प्रवृत्त होता है यथार्थ ज्ञान मतलब जो जिस स्वरूप वाला है उसे उसी रूप में ग्रहण करना– 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः'। दर्शन का मुख्य प्रयोजन जन्म–जरा–मरण के भव से मुक्त करना है। यह भावना दर्शन की अपनी अलग पृष्ठभूमि है तथा यहीं से इसकी वैज्ञानिकता का भी आरम्भ होता है। 'आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः' अर्थात् आत्मा का अपने स्वरूप में स्थिति हो जाना ही मोक्ष है। इस परमपद को प्राप्त करने हेतु अनेक विचारधाराओं ने अपना–अपना मत प्रस्तुत किया जो कालान्तर में सम्प्रदाय कहलाये। भारतीय दर्शन के आस्तिक एवं नास्तिक के भेद से द्विविध विभाजन में सांख्य–योग–न्याय–वैशेषिक–मीमांसा–वेदान्त छः दर्शन आस्तिक तथा चार्वाक–जैन–बौद्ध नास्तिक दर्शन कहलाये। कालान्तर में इनका अवान्तर विभाग भी हुआ लेकिन सबका मूल उद्देश्य यथार्थ ज्ञान को सर्वव्यापी करना था।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनि ऋषि ने 16 अध्यायों वाला मीमांसासूत्र लिखा। यही मीमांसा दर्शन का मूलग्रन्थ है। इन 16 अध्यायों में से प्रथम 12 अध्यायों का ही नियमित पाठ होता आया है अन्तिम 4 अध्याय परिशिष्ट के रूप में ग्रहण किये जाते हैं क्योंकि शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति, पादसंगति एवं अधिकारसंगति के बाद जो अंश शेष रह गया उसका अन्तिम 4 अध्यायों में विवेचन हुआ। इसीलिए 12 अध्यायों की प्रधानता होने के कारण मीमांसासूत्र को द्वादशलक्षणी भी कहते हैं। 16 अध्यायों में विभाजित यह ग्रन्थ अधिकरण एवं सूत्ररूप में दर्शनलभ्य है। जहाँ अधिकरण एवं सूत्रों के निश्चित संख्या के निर्धारण में वैमत्य है। सूत्रों की संख्या के पक्ष में कुछ विद्वान् 2742 सूत्र मानते हैं तो कुछ विद्वान् 2652 सूत्र स्वीकार करते हैं। आनन्द आश्रम पूना से प्रकाशित न्यायमाला ग्रन्थ में मीमांसासूत्र के सूत्रों की संख्या 2745 मानी गयी है। यह वैमत्य भाट्ट–गुरु–मुरारी सम्प्रदायों के विभाजन के कारण हुआ है। इसी प्रकार अधिकरण के विषय में भी मतभेद है जैसे कि किसी विद्वान् ने 915 अधिकरण स्वीकार किये तो किसी ने 907 अधिकरण माने। मीमांसासार संग्रह के रचनाकार शंकरभट्ट जी ने कुल 1000 अधिकरण स्वीकार किये हैं। इस प्रकार मीमांसासूत्र का विभाजन हुआ।

मीमांसा दर्शन मुख्य रूप से धर्म का विवेचन करता है। धर्म विवेचन के प्रसंग में ही अनेक मौलिक विचार प्रस्तुत करता है। मान् विचारे धातु से सन् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में मीमांसा शब्द निष्पन्न होता है अतः मीमांसा का एक अर्थ विचार करना भी होता है। यह विचार धर्म को केन्द्र में रखकर किया जाता है। राजा राधाकान्त देव बहादुर द्वारा विरचित शब्दकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ में मीमांसा शब्द के प्रसंग में द्वादश अध्यायों के वर्णनीय विषयों का संक्षिप्ततः परिचय दिया है, जो इस प्रकार है –

प्रथमेऽध्याये विध्यर्थवादादिरूपं धर्म्मे प्रमाणं निरूपितम्। द्बितीयेऽध्याये यागदानादिकर्मभेदः। तृतीयेऽध्याये प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासार्थकत्वेन तच्छेषत्वम्। चतुर्थेऽध्याये गोदोहनस्य पुरुषार्थत्वप्रयुक्त्या अनुष्ठानं न तु क्रत्वर्थत्वप्रयुक्त्येत्येवमादयः। पञ्चमेऽध्याये क्रमनियतिविधेयत्वादयः। षष्ठेऽध्याये कर्त्तुरधिकारो नान्धादेरित्यादयः। सप्तमेऽध्याये समानमितरच्छ्येनेन इत्यादि प्रत्यक्षवचनेनाग्निहोत्रादि–नाम्नानुमितवचनेन च सामान्यतोऽतिदेशः। अष्टमेऽध्याये सौर्यं चरुं निर्वपेदित्यत्र निर्वापस्तद्धि तेन देवतानिर्द्देशः एकदैवतत्त्वमौषधद्रव्यकत्वमित्यादिना लिङ्गेनाग्नेयपुरोडाशेतिकर्त्तव्यता–नान्यस्येत्येवमादिविशेषातिदेशः। नवमेऽध्याये प्रकृतावग्नये युष्टं निर्वपामीति पठिते मन्त्रे विकृतौ सौर्यचरावग्निपदपरित्यागेन सूर्यपदप्रक्षेपेण सूर्याय युष्टं निर्वपामीत्येवमादिरूहः। दशमेऽध्याये कृष्णलेषु चोदकप्राप्तस्यावघातस्य वितुषीकरणासम्भवेन लोप इत्येवमादिर्वाधः। एकादशेऽध्याये बहूनामाग्नेयादीनां प्रधानानां सकृदनुष्ठितेन प्रयाजाद्यङ्गेनोपकार इत्यादि तन्त्रम्। द्वादशेऽध्याये प्रधानस्य पशोरुपकाराय अनुष्ठितेन प्रयाजाद्यङ्गेन पश्वङ्गपुराडाशेऽप्युपकार इत्यादिप्रसङ्गः।

इस प्रकार से संक्षिप्त रूप से मीमांसासूत्र में अध्यायक्रम से वर्णित विषयों का परिचय कराया गया है। मीमांसा दर्शन का मुख्य रूप से यज्ञादिकर्मों से सम्बन्ध है। जिसके प्रसंग में अनेक विषयों का विवेचन हुआ है। यह यथाप्रसंग दर्शन के सृष्टि, जीव, मोक्षादि का भी वर्णन करता है जिसका उल्लेख तत्तत्प्रकरणों में दृष्टिगोचर है। मीमांसा दर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध दर्शन है।

24.2 धर्म

मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय धर्म है। यह धर्म शब्द संस्कृत के धृञ् धारणे धातु से निष्पन्न होता है यह 'धारण करने वाला' अर्थ का द्योतक है। उक्ति भी है – 'धारणाद् धर्म इत्याहुः'। मीमांसा सूत्र के प्रारम्भ में ही 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र से सम्पूर्ण शास्त्र को धर्म के अधिकरण में समाहित करता है। अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में ही जैमिनि द्वारा रचित द्वादशलक्षणी अर्थात् मीमांसासूत्र को धर्मविवेक के लिए रचित बताया गया है– 'अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिधर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय'। धर्म के विषय में अन्य शास्त्रों में भी अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं जैसे– वैशेषिक दर्शन में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' तथा अन्यत्र भी 'आचारः परमो धर्मः', 'अयञ्च परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्'। इस प्रकार अन्य शास्त्रों में धर्म का विवेचन हो जाने के पश्चात् पुनः धर्मविवेचन की क्या आवश्यकता है? महर्षि जैमिनि की इसमें क्यों प्रवृत्ति हुई? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होने पर इसका समाधान किया जा रहा है कि अन्य शास्त्रों में धर्म की केवल प्रतिज्ञा मात्र हुई है धर्म के स्वरूप का परिष्कार नहीं हुआ है– 'न हि प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुसिद्धिः इति न्यायेन पूर्वं प्रदर्शितैः प्रमाणैः धर्मप्रतिज्ञैव कृता, न धर्मस्वरूपमग्रे परीक्षितम्'। भगवान् जैमिनि के इस शास्त्र के निर्माण का कारण बताते हुए कहते हैं कि – 'जागतानां पदार्थानामुद्देशो लक्षणं तत्परीक्षैवाग्रे समुपलभ्यते, न पुनरध्यात्मशोधनाय वेदप्रतिपादितो धर्म इतिकर्त्तव्यतादिभिस्सम्यग्विवेचित इति सर्वथा धर्मानुष्ठातृभिः जैमिनिविरचितमिदं विपुलं शास्त्रमेव शरणीकरणीयम्। तथाहि– शास्त्रेऽस्मिन् द्वादसस्वध्यायेषु क्रमेण धर्मस्वरूपतत्प्रमाण–भेद–शेषत्व–प्रयुक्ति–क्रमाधिकारसामान्यातिदेशविशेषातिदेशोहबाध–तन्त्रप्रसङ्गरूपा धर्मसम्बन्धिनो विषया विवेचिताः। स्वर्गादिफलाय यथा यागादिः करणम्, प्रयाजादयश्चेतिकर्त्तव्यता तथा धर्मे फले साधनीये वेदः करणं मीमांसा चेतिकर्त्तव्यता। तदुक्तं भट्टपादैः –

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति।।

'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र में 'अथ' शब्द आनन्तर्य का वाचक है। शास्त्रों में अथ शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है जैसे – मंगल, आनन्तर्य, आरम्भ, प्रश्नादि अर्थों में प्रयुक्त होता है– 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ'। प्रस्तुत प्रसंग में आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त है। किन्तु श्रवण से मंगलार्थ भी ग्राह्य है क्योंकि अन्य प्रयोजन से ले जाया जाता हुआ जलपूर्ण कुम्भ यात्राप्रसंग में दर्शनमात्र से मंगलकारी होता है – 'चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्'। अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त होने से यहाँ किसी पूर्ववर्त्ती कर्म की अपेक्षा होती है। इसलिए यहाँ वेदाध्ययन ही पूर्ववर्त्ती कर्म है– 'अत्र अथशब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः'। तथा 'अतः' शब्द वेदों के दृष्टार्थत्व का बोधक है – 'अतः शब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं'। और यहाँ 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि से यह निश्चित होता है कि वेदों का दृष्टार्थ उनका अर्थज्ञान ही है – 'तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थम्'। इस प्रकार वेदों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् तथा उनका यथार्थ आशय समझ लेने के बाद धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

हमारे शास्त्रों की बहुत ही अच्छी एवं प्रचलित परम्परा रही है कि किसी विषय पर विशेष ध्यान आकृष्ट करने के लिए विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रसंग में

इस शास्त्र के ध्येय विषय धर्म को जानने के लिए अर्थसंग्रहकार प्रश्न करते हैं कि यह धर्म क्या हैं? इसका लक्षण क्या है? तथा इसका स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'यागादिरेव धर्मः' अर्थात् यागादि ही धर्म है। याग वेद विहित कर्म है और वेद धर्म का द्योतक है अतः वह वेद विहित याग कर्म धर्म हुआ तथा इसी के साथ वन्दनादि के धर्म होने का वारण करते हैं – 'यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादेर्धर्मत्वं वारयति। न चैत्यवन्दनादिर्धर्मस्तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः'। याग के साथ आदि शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि याग के साथ–साथ दान, होम आदि को भी धर्म मानना चाहिए – 'आदिपदेन दानहोमादयो द्रव्यगुणादयश्च गृह्यन्ते'।

धर्म के प्रसंग में अन्यान्य शास्त्रों में अनेक विवेचन द्रष्टव्य हैं दर्शनशास्त्रों में भी धर्म के विषय में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसका संक्षिप्ततः निर्देश इस प्रकार है – 'अन्तःकरणवृत्तिविशेषं केचन धर्ममाहुः। विज्ञानवासनां धर्मं वदन्ति कतिपये। पुद्गलाख्यान् परमाणून् धर्ममेके मन्यन्ते। आत्मनो विशेषगुणं धर्मं प्रवदन्त्यपरे। अपूर्वं धर्ममित्येके मेनिरे। चैत्यवन्दनं धर्ममित्यन्ये। आत्मदर्शनमेव धर्मः इत्यन्ते'। इस प्रकार अन्यान्य दर्शनों में भी धर्म का स्वरूप बताया गया है। अर्थसंग्रहकार धर्म का लक्षण स्पष्ट करते हैं – 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित, प्रयोजन वाला एवं सार्थक होना ही धर्म का लक्षण है। यह लक्षण अपने आप में सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र को समाहित करता है। इस लक्षण के विशेष व्याख्यान से ही इसका अभिलषित अर्थ प्राप्त होगा। जहाँ लक्षण के तीनों दोषों का अभाव होना निश्चित होगा तथा लक्षण का यथार्थ होना निश्चित होगा। लक्षण का लक्षण इस प्रकार है – 'व्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवत्रिदोषरहितत्वं लक्षणत्वम्' अर्थात् व्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीन दोषों से रहित होना ही लक्षण का लक्षण है। इस प्रकार इन तीनों दोषों के द्वारा 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' लक्षण का परीक्षण होगा।

'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस वाक्य में वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवत् एवं अर्थ ये तीन पद लक्षण हैं तथा धर्म पद लक्ष्य। धर्म के लक्षण के इन तीन पदों का क्रमशः परीक्षण करके, इनकी उपयुक्तता देखकर तथा व्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों का अभाव प्राप्त होने पर ही लक्षण को यथार्थ माना जायेगा। इस प्रसंग में लक्षण के अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। अव्याप्ति – 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' अर्थात् लक्ष्य के किसी एक अंश में लक्षण का न होना अव्याप्ति दोष है जैसे – 'शाबलेयत्वम्' अर्थात् चितकबरा वर्ण का होना गौ का लक्षण है लेकिन लोक में श्वेत, कृष्ण, रक्त, कपिश आदि वर्णों की गौ को देखा जाता है अतः गौ का यह लक्षण सम्पूर्ण देश को आवृत्त न कर पाने के कारण अव्याप्ति दोष वाला है। अतिव्याप्ति – 'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः' अर्थात् अलक्ष्य अथवा लक्ष्य से भिन्न में भी वृत्ति का होना अतिव्याप्ति दोष है। जैसे – 'शृङ्गित्वम्' अर्थात् शृंग होना गौ का लक्षण है लेकिन गौ से भिन्न अर्थात् अलक्ष्य अजादि, महिषादि में भी शृंग पाया जाता है अतः लक्ष्य के साथ–साथ अलक्ष्य में भी लक्षण का पाया जाना अतिव्याप्ति दोष है। असम्भव – 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः' अर्थात् लक्ष्यमात्र में लक्षण का न पाया जाना सम्भव दोष है। जैसे – 'एकशफत्वम्' अर्थात् एकशफ होना गौ का लक्षण है लेकिन एकशफ वाले ऊंट आदि पशु हैं, गौ द्विशफ वाला पशु है अतः यह लक्षण गौ में अंशमात्र भी नहीं पाया जाता अतः असम्भव दोष है। इन तीनों दोषों से रहित होना ही लक्षण का लक्षण है –**'अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्'**।

वेदप्रतिपाद्य अर्थात् जो वेद द्वारा प्रतिपादित हो यह लक्षण का प्रथम पद है। इस पद का लक्षण में ग्रहण करने का उद्देश्य भोजनादि अवेदप्रतिपाद्य कर्मों का निवारण करना है क्योंकि भोजन क्षुधा की निवृत्ति वाला होने से प्रयोजनवान् है तथा शरीर को पुष्टि करने वाला होने के कारण सार्थक भी है पुनरपि यह अवेदप्रतिपाद्य है। वस्तुतः यह भोजनादि कर्म तो रागतः प्राप्त हैं – 'भोजनादे रागादिनैव प्राप्तत्वात्'। जब भूख लगती है तो उसकी तृप्ति के लिए भोजन किया जाता है यह तो स्वभाव से प्राप्त है इसके लिए वैदिक विधि की अपेक्षा नहीं है –

'भोजनस्य तृप्तिफलकत्वमर्थत्वञ्चास्तीत्यतिव्याप्ति। वेदप्रतिपाद्यत्वेति विशेषणेन सा व्यावर्त्यते। न हि भोजनं वेदप्रतिपाद्यम्। क्षुधं निवर्तयितुं पुरुषस्य प्रवृत्तिर्भोजने दृश्यते, न तु वेदप्रतिपाद्यं भोजनमिति पुरुषः प्रवर्तते'।

इसी प्रकार प्रतिपादिका नामक टीका में प्राप्त है कि भोजन के इष्ट होने पर भी वह वेद द्वारा नहीं कहा जाता है – 'भोजनादेः इष्टसाधनत्वेऽपि तथात्वेन वेदबोधत्वं नास्ति इतिभावः'। इस प्रकार वेदप्रतिपाद्य पद के प्रयोग करने का उद्देश्य है अवेदप्रतिपाद्य भोजनादि कर्मों में धर्म की अतिव्याप्ति न हो जाये। अर्थसंग्रहकार भी संक्षिप्त शब्दों में कहते हैं कि – 'भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्यः इति' अर्थात् भोजनादि में अतिव्याप्ति न हो जाये इसके लिए वेदप्रतिपाद्य पद का प्रयोग किया गया है।

लक्षण के क्रम से द्वितीय पद के रूप प्रयोजनवत् पद प्राप्त है। प्रयोजनवान् कहने का आशय किसी प्रयोजन अथवा उद्देश्य से युक्त होने से है। मीमांसा में अनेक कर्मों का सम्पादन करने के क्रम में प्रायः स्वर्ग शब्द प्राप्त हुआ है लेकिन यहाँ पर स्वर्ग शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि स्वर्ग स्वयं लक्ष्यरूप है। स्वर्गादि मुख्य प्रयोजन में अतिव्याप्ति न हो जाये इसलिए यहाँ प्रयोजनवान् शब्द का प्रयोग हुआ है – 'प्रयोजनेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवत् इति'। अतः धर्म के लक्षण में प्रयोजनवान् शब्द का प्रयोग करने से यह धर्म किसी लक्ष्य को प्राप्त कराने का साधन है। क्योंकि साधन ही प्रयोजनवान् हो सकता है साध्य नहीं – 'प्रयोजनं स्वर्गादिकम्। तत्र 'स्वर्गकामः', 'पुत्रकामः', 'पशुकामः' इत्यादि वेदप्रतिपाद्यत्वमस्ति अर्थत्वञ्च वर्तते इत्यतिव्याप्तिः। प्रयोजनवत्वविशेषणेन सा व्यवर्त्यते, स्वयं तस्य प्रयोजनत्वेन प्रयोजनस्य प्रयोजनान्तराभावात्'। ज्योतिष्टोम आदि याग धर्म हैं ये स्वर्गादि फल के प्राप्त होने में साधन का कार्य करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत लक्षण में प्रयोजनवान् होने से धर्म का लक्षण सिद्ध होता है।

धर्म के लक्षण में तृतीय पद के रूप में अर्थ पद प्राप्त है। अर्थसंग्रहकार कहते हैं कि यदि धर्म के लक्षण में अर्थ पद को माना जाय तो धर्म का लक्षण ध्येनादि में अतिव्याप्त होने लगेगा। इस प्रकार ध्येनादि कर्म भी धर्म की श्रेणी में आने लगेंगे। इसका निर्वारण करने हेतु अर्थ पद प्रयुक्त हुआ है। यह श्येन याग भी वेदविहित है पुनः इसमें प्रवृत्त होने में अनर्थ क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह कर्म भले ही वेदप्रतिपादित है किन्तु अनिष्ट नरक का जनक होने के कारण यह अनर्थभूत है? पुनः प्रश्न उठता है कि यह श्येन याग नरक का जनक कैसे है? यह श्येन याग युद्ध के समय किसी राजा के द्वारा अपने शत्रु पर विजय प्राप्ति करने हेतु किया जाता है। इस श्येन याग के सम्पादन से शत्रु का नाश हो जाता था। इस प्रकार इससे इष्ट की प्राप्ति होती थी लेकिन पापकर्म होने के कारण श्येन कर्म का अनुष्ठान कराने वाले को प्रायश्चित्त कर्म करना पड़ता था अथवा नरक की प्राप्ति होती थी इसलिए यह श्येन याग अनिष्ट नरक की प्राप्ति का कारण होने से अनर्थभूत कहा गया है –

'श्येनफलस्य शत्रुवधस्य नरकजनकत्वेन अनर्थत्वात् श्येनोऽपि तद्‌वारा अनर्थ एव, तस्यापि शत्रुवधद्वारा नरकजनकत्वादिति भावः'।

अतः अर्थभूत एवं इष्टभूत कर्म ही धर्म के लक्षण में समाहित होने योग्य है। इस प्रकार धर्म के लक्षण में गृहित वेदप्रतिपाद्य, प्रयोजनवत् एवं अर्थ पद तीनों दोषों से रहित हैं अतः धर्म का यह लक्षण शुद्ध एवं दोषरहित निष्पन्न होता है –

'वेदप्रतिपाद्यत्वे प्रयोजनवत्वे च सत्यर्थत्वं धर्मत्वमिति धर्मलक्षणमुपपन्नम्'।

मीमांसा सूत्र द्वारा प्रदत्त धर्म का लक्षण 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' तथा अर्थसंग्रहकार के धर्म के लक्षण 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' में भिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है क्योंकि चोदना पद से वेद के विधिमात्र का प्रतिपादन हो रहा है सम्पूर्ण वेद का नहीं, यदि आपका ऐसा कहना है तो यह प्रासंगिक नहीं, क्योंकि यह चोदना शब्द तो सम्पूर्ण वेद का वाचक है –

'चोदनाशब्दो विधिनिषेधवाक्यपर एव, विधिनिषेधानाञ्च वेदैकदेशत्वमेव, तथापि वेदमात्रपरश्चोदनाशब्दः। वेदश्च विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयनिषेधात्मना विभक्तः। तत्र विधेरन्यैर्वेदभागैरर्थवादादिभिर्नियतस्सम्बन्धः अर्थवादानां विध्येकवाक्यत्वम्, मन्त्राणाञ्च विधेययागादिसमवेतार्थप्रकाशकत्वेन विधिसम्बन्धः, नामधेयानाञ्च विध्येकदेशत्वम्, निषेधानाञ्च विधिरूपत्वमिति चोदनाशब्दो वेदमात्रपर इति भावः'।

इस प्रकार वह चोदना शब्द वेद के सम्पूर्ण भागों का बोधक होने के कारण धर्म के दूसरे लक्षण से भिन्न नहीं। तथा यह चोदना शब्द वेदों की प्रतिपादक होने से तथा वेदों का धर्म में तात्पर्य होने से सभी वेद धर्म के प्रतिपादक हैं ऐसा मानना चाहिए – 'तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्'। इस धर्म का याग के रूप में 'यजेत स्वर्गकामः' की भावना से पुरुष को स्वर्ग प्राप्त कराने के उद्देश्य से विधान किया जाता है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में धर्म का अत्यन्त विस्तृत रूप में वर्णन प्राप्त होता है। मीमांसा दर्शन के प्रकरण ग्रन्थ रूप में प्राप्त अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में संक्षिप्त रूप में धर्म का विवेचन प्राप्त होता है लेकिन धर्म को उसके यथार्थरूप में व्याख्यायित करने के लिए पर्याप्त है। धर्म के विवेचन के प्रसंग में 'अथातो धर्मजिज्ञासा', 'यागादिरेव धर्मः', 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इन प्रमुख वाक्यों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया। तथा इनपर विचार करने से धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान सके।

24.3 भावना निरूपण

भावना शब्द भू धातु प्रेरणा अर्थ में णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व की विवक्षा में निष्पन्न होता है। यह मीमांसा दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। 'यजेत स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष को याग करना चाहिए। यहाँ 'यजेत' इस विधेय समर्पक पद में दो अंश हैं – यजि धातु एवं त प्रत्यय। त प्रत्यय में भी दो अंश हैं – आख्यातत्व एवं लिङ्त्व। इस आख्यातत्व एवं लिङ्त्व के सम्मिलित स्वरूप को ही भावना कहते हैं – 'उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते'। यहाँ जो आख्यातत्व है वह दशों लकारों में प्रवृत्त होता है लेकिन जो लिङ्त्व है वह केवल

लिङ् लकार में ही प्रवृत्त होता है। आख्यातत्व एवं लिङ्त्व का विज्ञान आगे विध्यादि प्रसंगों के स्पष्टतः वर्णित है।

'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः भावना' अर्थात् उत्पन्न होने वाले की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजक का जो व्यापार विशेष है वही भावना है। यदि इसे सरल शब्दों में कहना चाहें तो जो वस्तु उत्पन्न हो हुई है उस वस्तु के उत्पन्न होने में व्यक्तिविशेष का जो विशेष प्रकार का व्यापार है वह व्यापार मानसिक एवं शारीरिक दोनों हो सकता है इसे ही भावना कहते हैं। इसका लौकिक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि देवदत्त द्वारा चावल बनाने के प्रसंग में किया गया विशेष व्यापार भावना है तथा देवदत्त का इस चावल बनाने रूपी कर्म के अनुकूल प्रवृत्ति चैत्र का अभिप्राय विशेष है –

'यथोत्पद्यमानस्यौदनस्योत्पत्त्यनुकूलो देवदत्तस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। यथा चोत्पद्यमानाया देवदत्तप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलः प्रवर्तकस्य चैत्र स्याभिप्रायविशेषः'।

यहाँ चैत्र भावयिता हुआ तथा देवदत्त भवितृ हुआ क्योंकि कर्म में प्रवृत्ति देवदत्त की हो रही लेकिन इसकी मूलभावना चैत्र से सम्बद्ध है। इसी प्रकार इसका वैदिक उदाहरण देते हैं कि 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य स्वर्ग प्राप्त करने वाले की याग के प्रति अनुकूल प्रवृत्ति हुई। यहाँ वैदिक वाक्य भावयिता हुआ तथा प्रवृत्त पुरुष भवितृ हुआ –

'यथा वा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्रोत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्य वोत्पत्त्यनुकूलः स्वर्गकामस्य व्यापार उत्पद्यमानायाश्च स्वर्गकामप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलो लिङो व्यापारविशेषः। तथा चान्योत्पादनानुकूलो भावुकस्य व्यापारविशेषो धात्वर्थादन्यः सर्वधात्वर्थसम्बद्धाकारेण भासमानो भावनासामान्यमिति सिद्धम्'।

यह भावना मुख्य रूप से दो भेदों वाली होती है – 1. शाब्दी भावना एवं 2. आर्थीभावना। शाब्दी भावना का लक्षण करते हुए कहते हैं कि 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना'। अर्थात् पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयोजक का विशेष प्रकार का व्यापार ही शाब्दी भावना कहलाता है। यहाँ प्रयोजक कोई व्यक्तिविशेष हो सकता है अथवा वेद या शब्द भी हो सकता है। यह भावना प्रत्यय के लिङ अंश से कही जाती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस लिङ अंश के श्रवण मात्र से ही यह बोध हो जाता है कि अमुक व्यक्ति अथवा अमुक शब्द मुझे कर्म में प्रवृत्त करना चाहता है अथवा यह मुझे प्रवृत्त करने के अनुकूल व्यापार वाला है – 'लिङ्श्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयति', 'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्' इति नियमेन प्रतीतेः। इसका लौकिक उदाहरण है कि – 'गामानय' यह अत्यन्त प्रचलित उदाहरण है। एक अत्यन्त वृद्ध किसी पुरुष से कहता है कि गौ लाओ। उस वृद्ध की बात सुनकर वह पुरुष सोचता है कि यह वृद्ध मुझे गाय ले जाने रूपी कार्य में प्रवृत्त करना चाहता है और वह तद्वत कर्म करता है। इस प्रकार यहाँ भावयिता के रूप में वृद्ध पुरुष है तथा भविता के रूप में पुरुष है।

यहाँ यह व्यापारविशेष लौकिक वाक्य में पुरुषनिष्ठ होने के कारण पुरुष के अभिप्रायविशेष वाला होगा। इस प्रकार लौकिक वाक्य में प्रयोजक के रूप में आचार्यादि का ग्रहण होगा जिनके शब्द से लिङादि का अर्थ समझा जायेगा। जैसे कि 'गामानय' में वृद्ध के अभिप्रायविशेष को जानकर पुरुष की प्रवृत्ति होती है। किन्तु वैदिक वाक्यों में पुरुष का अभाव होने यह अभिप्रायविशेष लिङ्गशब्दनिष्ठ होता है। इसलिए यहाँ

वेदवाक्यों के श्रवणमात्र से तथा विधिवाक्यों से प्रेरित होने के कारण ही कोई पुरुष किसी कर्म में प्रवृत्त होता है।

शाब्दी भावना के प्रकरण में तीन अंशों का वर्णन प्राप्त होता है – 1. साध्य 2. साधन एवं 3. इतिकर्तव्यता। यही आकांक्षात्रय कहलाते हैं। इसके लिए मीमांसा दर्शन में किं भावयेत्, केन भावयेत् तथा कथं भावयेत् शब्द प्राप्त होता है। इनका आशय यह है कि शाब्दी भावना से क्या सिद्ध किया जाये? किससे सिद्ध किया जाये? एवं कैसे सिद्ध किया जाये? इन तीनों आकांक्षाओं से ही शाब्दी भावना का प्रकरण पूर्ण होता है तथा शाब्दी भावना व्यापकता सिद्ध होती है। यहाँ शाब्दी भावना की साध्याकांक्षा आगे कहे जाने वाले आर्थीभावना के अंशत्रय हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक ही प्रत्यय से ज्ञात होने के कारण शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना दोनों का ग्रहण हो जाता है – 'साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। इसी प्रकार अंशत्रय के द्वितीय अंश साधनाकाङ्क्षा के प्रसंग में लिङादि ज्ञान का साधन के रूप में ग्रहण होता है। और इस लिङादि की करणता इसलिए सिद्ध नहीं होती कि इससे भावना की उत्पत्ति होती है यह तो पूर्व से ही उसमें समाहित होती है अपितु उस लिङादि से भावना का अर्थ व्यापक होता है तथा शाब्दी भावना के साध्य का साधन होता है – 'साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। तस्य करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात्, किन्तु शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन। शाब्दी भावना अंशत्रय की अन्तिम आकांक्षा इतिकर्तव्यता है। अर्थवाद से बोध्य प्रशस्तता अथवा निन्दितता का शाब्दी भावना के इतिकर्तव्यता के रूप में ग्रहण होता है – 'इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति'।

इस प्रकार शाब्दी भावना के साध्य अंशत्रययुक्त आर्थी भावना, साधन लिङादिज्ञान तथा इतिकर्त्तव्यता अर्थवाद से ज्ञाप्य प्राशस्त्यादि को भलीभांति जान लेने के बाद ही शाब्दी भावना का प्रकरण समाप्त होता है।

भावना के द्वितीय भेद के रूप में आर्थी भावना का वर्णन दर्शनलभ्य है। स्वर्गादिरूप प्रयोजन की इच्छा से भविता में उत्पन्न होने वाला यागविषय मानसिक व्यापार ही आर्थी भावना है। इस प्रकार यह भावना कर्म रूप में नहीं होता है अपितु बुद्धि के स्तर पर सम्पादित हो जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है – 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना'। यह त प्रत्यय के आख्यातत्वांश से बोधित होती है। यह आख्यातत्व दशों लकारों में होने के कारण आख्यातसामान्य है। इस आर्थी भावना के भी तीन अंश होते हैं – 1. साध्य 2. साधन एवं 3. इतिकर्तव्यता। यहाँ आकांक्षात्रय का स्वरूप इस प्रकार है – किं भावयेत् अर्थात् आर्थी भावना से क्या प्राप्त किया जाये? केन भावयेत् अर्थात् किस साधन से साध्य को प्राप्त किया जाये तथा कथं भावयेत् अर्थात् कैसे प्राप्त किया जाये? इस आकांक्षात्रय की अपेक्षा होने पर तीनों को बताते हुए कहते हैं कि साध्याकांक्षा होने पर स्वर्गादि फल का ही साध्य के रूप में अन्वय होता है– 'साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति'। साधनाकांक्षा होने पर यागादि का करण के रूप में अन्वय होता है – 'साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति'। तथा इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाजादि अंगों का अन्वय होता है – 'इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति'। इस प्रकार आर्थी भावना के अंशत्रय साध्य का स्वर्गादिफल में, साधन का याजादि कर्म में तथा इतिकर्तव्यता का प्रयाजादि अंगों में अन्वय हो जाता है।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में भावना का ग्रहण होता है। वस्तुतः मीमांसा दर्शन में प्रवृत्ति हेतु भावना का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। भावना का प्रवृत्ति रूप अर्थ भी प्राप्त होता है। जहाँ आचार्यादि द्वारा अथवा शब्दों (वेद) द्वारा भावयिता के रूप में उपस्थिति होती है। शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना के भेद से भावना का विस्तार दीर्घ हो जाता है तथा दोनों भावनाओं के अंशत्रय भावना को अत्यन्त पुष्ट करते हैं।

24.4 वेद की अपौरुषेयता

'विद् ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर ज्ञान के अर्थ में वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। वेद भारतीय ज्ञान परम्परा के ही नहीं अपितु समस्त मानव सभ्यता के आदिम ग्रन्थ हैं। वेद ही ज्ञान–विज्ञान के आदिम स्रोत हैं। वेद में सम्पूर्ण जीवों के लिए परमकल्याण रूप अनेक सूक्तों में अनमोल विधानों का उन्मूलन किया गया है। वेद की व्युत्पत्ति करते हुए विष्णुमित्र कहते हैं कि – **'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः'** अर्थात् जिससे धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय के स्वरूप का बोध हो, जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त हो तथा जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। आर्य समाज के संस्थापक श्री दयानन्द सरस्वती जी ने अपने महनीय ग्रन्थ ऋग्वेदभाष्यभूमिका में कहा है कि – 'वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्र एवं ब्राह्मण को वेद की संज्ञा दी गयी है। सायणाचार्य कहते हैं –**'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'** अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने वेद को परमज्ञान के रूप में ही स्वीकार किया।

दर्शनों में नास्तिक दर्शन शिरोमणि चार्वाक् ने वेदादि का उपहास किया है उन्होंने वेदादि को स्वीकार करने वालों विक्षिप्त बुद्धि वाला कहा है– 'अग्निहोत्रस्त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानाम्।' अन्य नास्तिक दर्शनों ने वेद की स्वीकृति के विषय में मौन धारण किया है। आस्तिक दर्शनों में सभी दर्शनों ने वेद को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। स्वीकार करने के साथ ही उन्होंने वेद की उत्पत्ति के विषय में भी अपना–अपना मत प्रस्तुत किया है। इस दिशा में न्याय दर्शन एवं मीमांसा दर्शन की विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। न्याय दर्शन के अनुसार वेद पौरुषेय है एवं इसकी रचना करने वाला पुरुष ईश्वर है। वो वेदों की पौरुषेयता की सिद्धि करने हेतु अनुमान करते हैं कि 'वेद पौरुषेय हैं, वाक्य होने के कारण, महाभारतादि की तरह'। इस प्रकार न्यायाचार्यों ने वाक्य वाला होने के कारण वेद को पौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत स्वीकार किया। किन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्द नित्य हैं शब्दों का समूह होने के कारण वेद भी नित्य है। मीमांसक नैयायिकों के अनुमान को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि अनुमान सर्वत्र यथावत् सिद्ध नहीं होता, उसमें अनेक प्रकार के दोष देखे जाते हैं। मीमांसकों की दृष्टि में ये वेद अप्राप्य अर्थ का बोध कराने में तथा अज्ञात रहस्यों का प्रतिपादन करने में प्रवृत्त हैं – 'अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत् इति न्यायविदः'।

'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' इस वाक्य के द्वारा मीमांसकों ने वेदों को अपौरुषेय वाक्य कहा है जिसका आशय है कि वेद किसी की रचना नहीं। वस्तुतः भारतीय परम्परा में वेद अनादि माने गये हैं। कालान्तर में अनेक विचारधाराओं के उत्पन्न होने के कारण अनेक वाद उपस्थित हुए उन्हीं में कुछ विचारों ने वेद की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न उठाये। मीमांसकों ने उन पूर्वपक्षों का निराकरण करते हुए वेदों की अपौरुषेयता मत

की स्थापना की है। पूर्वपक्ष कहता है कि वेदों में अनेक ऋषियों का नाम पाये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषि ही वेदों के करता हैं इसलिए ये वेद पौरुषेय हुए – 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः'। कहते हैं कि बहुत सारे वेद तो ओ पुरुषों के नाम से जाने जाते हैं जैसे कि काठक, कापालक, पैप्पलादादि। वेदों से सम्बन्ध हुए विना उनका नाम इन वेदों के साथ नहीं लिया जा सकता। और पुरुष का इन शब्दों से केवल एकमात्र सम्बन्ध है कि वे पुरुष ही इसके कर्त्ता हैं – 'पुरुषेण हि सामाख्यायन्ते वेदाः – काठकं कापालकं पैप्पलादकमिति। न हि सम्बन्धादृते समाख्यानम्। न च पुरुषस्यान्यः शब्देनास्ति सम्बन्धो यदतः कर्त्ता पुरुषः कार्यः शब्दः इति'। पूर्वपक्ष के इस मत का खण्डन करते हुए मीमांसकाचार्य कहते हैं कि वेदों में पुरुषों का नाम आना अथवा पुरुषों के नाम पर वेदों को जानना यह बहुत बड़ी बात नहीं है क्योंकि किसी कार्य से किसी व्यक्ति अपरिमेय सम्बन्ध होने के कारण वह कार्य उस व्यक्ति के नाम से ही जाना जाता है। इसी प्रकार यदि किसी वेद का किसी पुरुषविशेष के नाम से व्यवहार हो रहा है तो इसका आशय यह नहीं कि वह पुरुषविशेष ही उसका कर्त्ता है, इसका आशय यह है कि वह पुरुष उस वेद का अप्रतिम व्याख्या करने वाला है अथवा उपदेश करने वाला है। लोक में भी देखा जाता है कि किसी एक पुरुष के द्वारा रचित कोई शास्त्र अनेकों पुरुषों के द्वारा व्याख्यायित होता है – 'यदुक्तं कर्त्तृलक्षणा समाख्या काठकाद्येति। तदुच्यते – नेयमर्थापत्तिः अकर्त्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति। इन पुरुषों का नाम वेदों के साथ सम्बद्ध होने का आशय उन वेदों के दीर्घकाल तक अध्ययन अध्यापन करने से है – 'आख्या प्रवचनात्'। इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्रथम मत का खण्डन हो गया।

अब पूर्वपक्ष द्वारा दूसरा मत प्रस्तुत किया जा रहा कि वेदों में अनित्य पदार्थों का उल्लेख होने के कारण वेद अनित्य हैं – 'अनित्यदर्शनाच्च'। इसी प्रकार 'वबरः प्रावाहणिरकामयत कुरुविन्द औद्दालकिरकामयत' अनित्य वाक्यों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों का प्रयोग होने से यह प्रतीत होता है कि वेदों की रचना किसी काल विशेष में हुई है जिससे कालावच्छादित होने के कारण कारण वेद अनित्य हैं। पूर्वपक्ष के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वेदों में इस प्रकार के वचनों का श्रवण केवल ध्वनिमात्र है इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं – 'परं तु श्रुसामान्यमात्रम्'। क्योंकि इतिहास में प्रवाहण नाम का कोई पुरुषविशेष प्रसिद्ध नहीं है। वस्तुतः यह प्रवाहण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक वह् धातु से इ प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है कि जो प्रवाहित करता है वह प्रावाहणि कहलाता है – 'यत् प्रावाहणिरिति जननमरणवतां निर्देश इत्युक्तम्। तत्र प्रवहाणाख्यस्य पुरुषस्याप्रसिद्धत्वात् न प्रवहाणस्यापत्यं प्रवाहणिरित्यर्थः। परन्तु प्र+वह्+इ इति व्युत्पत्त्या यः प्रवाहयति स प्रावाहणिः'। इस प्रकार से पूर्वपक्ष के द्वितीय मत का खण्डन कर मीमांसकाचार्यों ने वेद की अपौरुषेयता स्थापित की है।

पूर्वपक्ष का तीसरा मत है कि वेदों में उन्मत्त एवं बालवचन के समान शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे कि 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि – 'अथ कथमवगम्यते नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति? तथा हि पश्यामः 'वनस्पतयह सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत' इति। 'जरद्गवो गायति मत्तकानि कथम् नाम जरद्गवो गायेत्? कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन् इति?' पूर्वपक्ष के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वेदों में जो कुछ भी कहा गया है उसका किसी न किसी कर्म से अवश्य विनियोग है – 'कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्'। क्योंकि जब ज्योतिष्टोम

शब्द का प्रयोग होता है तो उसमें आकांक्षा की पूर्ति के लिए 'कर्त्तव्यः' क्रिया का संयोग होता है। इसके बाद प्रश्न उपस्थित होता है कि किस साधन से यज्ञ सम्पन्न हो – 'विनियुक्तं हि दृश्यते, परस्परेण सम्बन्धार्थम्। कथम्? ज्योतिष्टोमः इत्यभिधाय 'कर्त्तव्यः' इत्युच्यते। 'केन' इत्याकांक्षिते सोमेनेति। 'किमर्थम्' इति स्वर्गायेति', पुनः उत्तर प्राप्त होता है कि सोम नामक द्रव्य से यज्ञ की भावना करनी चाहिए। 'किमर्थम्' – क्यों, स्वर्ग गमन हेतु।

24.5 विधि

वेदों के पञ्चविध भेदों में विधि प्रथम भेद है। इसका लक्षण इस प्रकार है– **'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः'** अर्थात् अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले वेद के अंश को विधि कहते हैं। यह विधि सभी वेदभागों का मूल है। इसका आश्रय लेकर ही मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए यह विधि अन्य प्रमाणों से प्राप्त न होने वाले अर्थ का विधान करती है अतः प्रमाणान्तर से अज्ञात एवं प्रयोजनवत् अर्थ का विधान करने से विधि की सार्थकता दृष्टिगत होती है – **'स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते'।** इसका उदाहरण देते हैं – अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र करना चाहिए। यहाँ स्वर्ग की प्राप्ति हेतु अग्निहोत्र याग का विधान विधि से अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से नहीं हो सकता है तथा इस विधि से प्रस्तुत वाक्य वाक्यार्थ हुआ 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावेयत्' अर्थात् अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करें। इस प्रकार वेद के पञ्चविध भेदों में से प्रथम भेद विधि का स्वरूप अज्ञातार्थ का बोध कराना है।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह वाक्य विधि के द्वारा अप्राप्त स्वर्ग को प्राप्त करने के साधन अग्निहोत्र नामक कर्म का विधान करता है। लेकिन अन्य स्थानों पर कर्म का विधान किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त होने पर प्रमाणान्तर से प्रतिपादित कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान होता है। इसे गुणविधि कहते हैं। जैसे कि 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में साधन के प्राप्त तथा कर्म के अप्राप्त होने पर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से विधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में होम को उद्देश्य कर केवल गुणमात्र (दधि) का विधान किया गया है कर्म का नहीं। अतः प्रमाणान्तर से कर्म का विधान करके पूर्ण होता है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्य द्वारा 'दध्ना होमं भावयेत्' अर्थात् दधि से होम करें, ऐसा अर्थ ग्रहण होता है।

कुछ प्रसंग ऐसे भी प्राप्त होते हैं जहाँ गुण एवं कर्म दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त हैं वहाँ विधि द्वार गुण से विशिष्ट कर्म का विधान होता है वह विशिष्ट विधि कहलाती है – 'यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते'। इसका उदाहरण देते हैं 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में सोम एवं याग दोनों अप्राप्त हैं अतः सोमविशिष्ट याग का विधान किया जाता है। सोम में मत्वर्थलक्षणा से सोमेन के स्थान पर सोमवता मान लेने पर 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्' अर्थात् सोमयुक्त याग से इष्ट की भावना करें, ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। यहाँ सोमपद से सोम एवं याग इन दो अर्थों का विधान होने पर वाक्यभेद दोष होगा क्योंकि दोनों का पृथक् पृथक् विधान नहीं हुआ है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है यहाँ तो गुणविशिष्ट कर्म का ग्रहण हुआ है जो विशेषणयुक्त है। अतः यहाँ वाक्यदोष नहीं है।

इसी प्रकार यदि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि द्वारा सोम रूप गुण का विधान मान लिया जाये तो 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में मत्वर्थलक्षणा स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न उठने पर अर्थसंग्रहकार कहते हैं कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकार विधि है यह उत्पत्ति विधि नहीं हो सकती। इसलिए 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि द्वारा सोम का विधान होना अपरिहार्य है। यहाँ पुनः शंका उत्पन्न की जा रही है कि जिस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह उद्भिद नामक याग का बोधक है तथा अधिकार एवं उत्पत्ति दोनों विधियाँ हैं इसी प्रकार 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य को भी अधिकार एवं उत्पत्ति विधि वाला क्यों न मान लिया जाये? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में इन दोनों विधियों को मान लेने यज्ञ एवं यज्ञफलपरक दोनों विधान साथ साथ प्राप्त होने लगेगा जिससे वाक्यदोष होगा। इसलिए 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार करके सोमविशिष्ट याग का विधान मान लेते हैं।

आगे विधि को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया गया है– 1. उत्पत्ति विधि 2. विनियोग विधि 3. प्रयोग विधि एवं 4. अधिकार विधि। विधि के चतुर्विध भेदों में से प्रथम भेद उत्पत्ति विधि है जिसका लक्षण इस प्रकार है–**'तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः'** अर्थात् यागादि कर्म स्वरूप मात्र का बोध कराने वाली विधि का नाम उत्पत्ति विधि है। इसका उदाहरण देते हैं– 'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ इस विधि में अग्निहोत्र कर्म का करण के रूप में अन्वय हुआ है अतः इसका वाक्यार्थ होगा 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' अर्थात् अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट की भावना करें। यहाँ याग के दो रूप बताये गये हैं – द्रव्य एवं देवता। 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में द्रव्य एवं देवता रूप का श्रवण न होने पर भी इसमें उत्पत्ति विधि कैसे होगी? यदि अग्निहोत्र शब्द को तत्प्रख्यन्याय से नामधेय मान लें तो ऐसा नहीं हो सकता क्यों कि तत्प्रख्यन्यास से अग्निहोत्र नामधेय नहीं हो सकता अपितु विधि ही होगा क्योंकि रूपों का श्रवण न होने पर भी यहाँ उत्पत्ति विधि है। अन्यथा रूप का श्रवण होने पर ही विधि मानने पर 'दध्ना जुहोति' वाक्य में रूप का श्रवण होने पर उत्पत्ति विधि होने लगेगा तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं है, रूप का श्रवण न होने पर 'अग्निहोत्रं जुहोति' में उत्पत्ति विधि होगी।

24.6 सारांश

मीमांसा दर्शन दर्शनशात्र में धर्मशास्त्र के नाम से जाना जाता है। मीमांसा दर्शन का सम्पूर्ण व्याख्येय विषय धर्म ही है। अथातो धर्मजिज्ञासा से प्रारम्भ हुआ यह शास्त्र धर्म का विवेचन करते हुए समाप्त हो जाता है। मीमांसा दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ अर्थसंग्रह मीमांसा दर्शन के विवेच्य विषयों को संक्षिप्त रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में ही अर्थसंग्रह को धर्मविचारशास्त्र कहा गया है– 'अतः धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति'। 'अथातो धर्मजिज्ञासा', 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः', 'यागादिरेव धर्मः', 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इन धर्मसूत्रों का विवेचन करते हुए धर्म के यथार्थस्वरूप को प्रतिपादित करते हुए धर्म का प्रसंग समाप्त होता है। धर्म के विश्लेषण करने के पश्चात् मीमांसा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द भावना का विवेचन किया जाता है। जहाँ 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः भावना' भावना के इस लक्षण से आरम्भ होकर भावना के द्विविध भेद आर्थीभावना एवं शाब्दीभावना का सोदाहरण वर्णन किया जाता है तथा इन दोनों भावनाओं अंशत्रय साध्य, साधन एवं

इतिकर्त्तव्यता का विवेचन किया जाता है। मीमांसा दर्शन का अत्यन्त प्रासंगिक एवं विवेचनीय विषय है वेदापौरुषेयत्व। यह सिद्धान्त सभी दर्शनों में मीमांसा दर्शन को शीर्ष स्थान प्राप्त कराता है। विधि वेद के पंचविध अंशों में से प्रथम एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह वेदांश अज्ञात अर्थ का बोध कराने हेतु प्रवृत्त होता है – 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः'। यह वेदांश अन्य अंशों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सभी वेदांशों के मूल में स्थित है इसलिए इसकी प्रधानता और बढ़ जाती है। इस प्रकार अर्थसंग्रह के विवेचित प्रमुख विषयों के रूप में धर्मादि का विवेचन मीमांसा में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिए प्रधानतया पठनीय है।

24.7 शब्दावली

अग्निष्टोम – सोमसंस्था का याग विशेष।

अपौरुषेय – जो किसी पुरुष विशेष द्वारा रचित न हो।

अर्थज्ञान – अनुमोदित विषय का बोध।

चोदना – प्रेरणा।

जिज्ञासा – विचार करना।

धर्म – जो विधिवाक्य से ज्ञात हो तथा इष्ट का साधन हो।

भावना – मानसिक/शारीरिक व्यापारविशेष।

भावयिता – प्रयोजक/प्रेरक।

याग – वेदानुमोदित कर्मविशेष।

वेद – अपरुषेय वाक्य जो ज्ञानराशिरूप में विद्यमान है।

श्येन – एक विशेष याग।

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थमीमांसा नाम हिन्दी व्याख्या एवं भाष्य, हिन्दी भाष्यकार– डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, संस्करण– वि.सं. 2016।
- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, प्रकाशिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 2014।
- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, अर्थालोक नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– पट्टाभिराम शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. वाचस्पति मिश्र, वाराणसी,चौखम्भा ओरियण्टालिया, 1990।
- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, दीपिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामी, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1979।

- अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, सार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थबोधिनी नाम हिन्दी टीका, हिन्दी टीकाकार– डॉ. दयाशंकर शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2003।
- भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 2016।
- भारतीय दर्शन, डॉ. नन्द किशोर देवराज, लखन0, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2002 ।
- भारतीय दर्शन, डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005 ।
- भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009 ।
- मीमांसामञ्जरी, र. तङ्गस्वामी शर्मा, नई दिल्ली, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, 1996 ।
- मीमांसा के पारिभाषिक पदों का परिचय, डॉ. किशोरनाथ झा, नई दिल्ली, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2013 ।

24.8 अभ्यास प्रश्न

1. अर्थसंग्रह के अनुसार धर्म पर प्रकाश डालिए।
2. भावना क्या है? भावना के भेदों का स्वरूप बताइये।
3. वेद क्या है? वेदापौरुषेय से आप क्या समझते हैं?
4. विधि क्या है? किस अवस्था में विधि का विधान होता है?
5. मीमांसा दर्शन को धर्मशास्त्र कहा गया है; स्पष्ट कीजिए।

इकाई 25 मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

- अर्थसंग्रह में वर्णित 'मन्त्र' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित 'नामधेय' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित 'निषेध' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित 'अर्थवाद' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे; तथा
- अर्थसंग्रह के नये पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय को जान सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

आस्तिक नास्तिक के भेद से विभाजित भारतीय दर्शन की अक्षुण्य परम्परा वेदकाल से अबाध्य समृद्धि को प्राप्त होती चली आ रही है। आस्तिक दर्शन ने प्रायः श्रुतियों का ही

समर्थन किया है तथा उससे निर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन किया है। विचारविश्लेषण के वैशिष्ट्य से आस्तिक में भी अनेक सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुए जैसे – सांख्यदर्शन, योगदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, मीमांसादर्शन एवं वेदान्तदर्शन आदि। सभी दर्शनों का मोक्ष ही एकमात्र लक्ष्य है। वस्तुतः तत्त्वदर्शन तो विचारभेद का है अन्यथा गन्तव्य स्थान तो एक ही है। नास्तिक दर्शन में चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन की गणना की जाती है इसी प्रकार आस्तिक दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन गण्य हैं। मीमांसा दर्शन भारतीय दर्शन का एक ऐसा दर्शन है जो कर्मकाण्ड, यज्ञादि की विवेचना करता है।

मीमांसा शब्द मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। मीमांसा शब्द पूजितविचार अर्थ का द्योतक है जो परमपुरुषार्थ मोक्ष के हेतु का सूक्ष्मतम विचार करता है– 'पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता'। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि हैं जिनके द्वारा मीमांसा दर्शन के आधार ग्रन्थ मीमांसासूत्र की रचना की गयी। मीमांसा दर्शन में मुख्य रूप से तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं – भाट्टसम्प्रदाय, प्राभाकर सम्प्रदाय एवं मुरारी सम्प्रदाय। मीमांसा दर्शन में प्रमाणों की संख्या भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार पाँच – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापत्ति है प्रभाकर के अनुसार छः प्रमाण स्वीकृत हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि। मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद तर्कपाद के नाम से प्रसिद्ध है। मीमांसा में मुख्य रूप से धर्म की व्याख्या एवं विवेचन किया गया है। मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र धर्म की जिज्ञासा करने के लिए प्रेरित करता है – 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। तथा द्वितीय सूत्र धर्म की व्याख्या करता है – 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। मीमांसा दर्शन के प्रकरण ग्रन्थ अर्थसंग्रह में धर्म का लक्षण किया गया है – 'यागादिरेव धर्मः' अर्थात् यागादि कर्म ही धर्म है। इसी प्रकार धर्म का एक अन्य लक्षण प्रस्तुत करते हैं– 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' अर्थात् वेद में प्रतिपादित विषय जो प्रयोजन के समान अर्थ है वही धर्म है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन का मूल विवेच्य विषय धर्म ही है। कुमारिल भट्ट के अनुसार मीमांसा दर्शन का प्रयोजन धर्म ही है – 'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'।

25.2 मन्त्र से अभिप्राय

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। इनके अनुसार यदि शब्द का उच्चारण हो गया तो वह सर्वदा नित्य है क्योंकि जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो स्मरण होता है कि यह शब्द कहीं सुना था। अतः शब्द का नित्यत्व सिद्ध है। वेदों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है, कुछ विद्वान् वेदों को मनुष्य अथवा ऋषि की कृति मानते हैं, कुछ ईश्वरकृत एवं कुछ अनादि मानते हैं। 'विद् ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर वेद शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ है – ज्ञान की राशि। ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वेद का अर्थ किया है – 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः' अर्थात् जिससे धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय के स्वरूप का बोध हो, जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त हो तथा जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। चारों वेदों पर भाष्य करने वाले सायणाचार्य वेद का स्वरूप बताते हुए कहते हैं – 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मन्त्र एवं ब्राह्मण को वेद के नाम से जाना जाता है – 'वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। मीमांसा दर्शन में अपौरुषेय वाक्य को वेद कहा गया है – 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'। वेद को भलीभाँति समझने के लिए विषयक्रम से उसका विभाजन किया गया है, जहाँ वेद के पाँच भेद हैं – 1. विधि, 2. मन्त्र, 3. नामधेय, 4. निषेध और 5. अर्थवाद।

प्रस्तुत इकाई में मन्त्र का विवेचन करना ही अभिप्रेत है। मन्त्र का लक्षण करते हुए अर्थसंग्रहकार ने कहा है – 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' अर्थात् कर्मानुष्ठान के समय द्रव्य देवता आदि पदार्थों का स्मरण कराने वाले वेदभाग को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के मुख्यतः दो प्रयोजन हैं – अदृष्ट प्रयोजन एवं दृष्ट प्रयोजन। अदृष्ट प्रयोजन का अर्थ है – स्वर्गादि की कामना। दृष्ट प्रयोजन का अर्थ है – मन्त्रोच्चारण से कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध द्रव्य–देवतादि का स्मरण। सर्वज्ञात है कि दृष्ट प्रयोजन के प्राप्त होने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना नहीं की जा सकती – 'दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'। अन्यत्र भी कहा गया है–

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।।

अतः मन्त्र का दृष्ट प्रयोजन द्रव्य–देवतादि का स्मरण प्राप्त है तो स्वर्गादि अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना से कोई लाभ नहीं। दूसरा मत यह है कि द्रव्य–देवतादि का स्मरण यदि दूसरे किसी साधन से कर लिया जाय तो मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध हो जायेगा एवं दृष्ट भी। किन्तु शास्त्रविहित है कि 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्यादिति' मन्त्रों का स्मरण करके ही कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। मन्त्र के दृष्टादृष्ट प्रयोजन को भलीभाँति जानने के लिए उसकी कुछ विधियों को जान लेना आवश्यक है जैसे– नियम विधि एवं परिसंख्या विधि।

25.2.1 नियम विधि

जहाँ एक ही क्रिया की सिद्धि के लिए अनेक साधन प्राप्त हों किन्तु किसी एक साधन के प्राप्त होने पर अन्य साधनों की भी प्राप्ति करा दे ऐसी विधि का नाम नियम विधि है – 'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः'। जैसे – क्षुधा की शान्ति के लिए फलाहार, अन्नाहार, मिष्ठान्न, फलरसाहारादि आदि प्राप्त हैं और कोई फलाहार द्वारा क्षुधाशान्ति के लिए प्रवृत्त होता है लेकिन ऐसे स्थिति में अन्य साधनों के प्राप्त होने पर भी अन्नाहाररूपी अप्राप्त साधन का ग्रहण करना नियम विधि है। ऐसे ही अर्थस्मरण (द्रव्य–देवतादि) के अनेक साधन हैं, जिसमें ब्राह्मण वाक्य एवं मन्त्रोच्चारण प्रमुख हैं। यागानुष्ठान के समय यदि कोई ब्राह्मणवाक्य साधन से ही अर्थस्मरण करना चाहता है और मन्त्रोच्चारण को निकृष्ट मानता है, इस अवस्था में मन्त्रोच्चारणरूपी द्वितीय साधन के अप्राप्त होने पर 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' विधि द्वारा मन्त्रोच्चारण साधन को ही प्रमुख साधन के रूप में उपस्थित करने वाली विधि नियम विधि है। वहीं नियमविधि का इस प्रकार से भी लक्षण किया गया है जैसे – 'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि को नियमविधि कहते हैं। यथा – 'व्रीहिनवहन्ति' यह नियम विधि का उदाहरण है। दर्शपूर्णमासादि यज्ञ में पुरोडाश तैयार करते समय तण्डुलनिष्पत्ति के क्रम में दो साधनों की प्राप्ति होती है – 1. नखविदलन एवं 2. अवहनन। उक्त दो साधनों में कर्ता को प्रथम साधन ही अभिप्रेत है अतः वह नखविदलन द्वारा तण्डुल तैयार करने लगता है इस प्रकार उसके लिए अवहनन साधन

अप्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'व्रीहिनवहन्ति' यह विधिवाक्य अवहनन के अप्राप्त होने पर भी अवहनन साधन को ही विहित करता है अर्थात् तण्डुलनिष्पत्ति के लिए अवहनन (कूटने) में ही कर्ता को प्रवृत्त करता है – 'वेतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदाऽवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदाऽवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते, अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः'। इस प्रकार अवहनन रूप साधन के अप्राप्त होने पर भी उस अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाली विधि नियम विधि है।

25.2.2 परिसंख्या विधि

किसी कार्य की सिद्धि में एक ही काल में प्राप्त दो विधियों में से किसी एक की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि का नाम परिसंख्या विधि है – 'उभयोश्च युगपत्प्राप्ताावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः'। परिसंख्या का शाब्दिक अर्थ है – निवृत्ति कराना। यहाँ परि शब्द वर्जनार्थक है तथा संख्या शब्द बुद्धि (ज्ञान) का बोधक है, इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यहाँ अर्थ हुआ – वर्जन कराने वाली बुद्धि अथवा ज्ञान। अतः 'परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थः। 'परिर्वर्जने' 8.1.5 इति पाणिनिसूत्रे। संख्या बुद्धिः। परिसंख्या वर्जनबुद्धिः। परिसंख्याजनकः विधिः परिसंख्याविधिः'। इस प्रकार परिसंख्या विधि का अर्थ हुआ – निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि। अतः परिसंख्या विधि को इस रूप में भी अभिव्यक्त कर सकते हैं– 'एकस्मिन् प्रधाने नियतप्राप्तस्य अङ्गद्वयस्य एकस्मिन् अङ्गे नियतप्राप्तस्य प्रधानद्वयसम्बन्धस्य अन्यतरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः इति वक्तव्यम्'।

परिसंख्या विधि का उदाहरण है – 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य के श्रवण से ऐसा ज्ञात होता है कि यह वाक्य पञ्चनख वाले जीवों के भक्षण का विधान कर रहा है किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि मनुष्य को भक्षण की प्रवृत्ति स्वभाव से प्राप्त है। तथा शास्त्रतः भी पञ्चनखभक्षण प्राप्त है। जैसे –

> पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघवः।
> शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः।।रामायण।।
> पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
> गोधा कूर्मः शशः खड्गः शल्यकश्चेति ते स्मृताः ।।देवलस्मृति।।

इस प्रकार जब रागतः एवं शास्त्रतः पञ्चनख वाले पाँच जीवों के भक्षण की प्राप्ति है पुनः यह वाक्य भी पञ्चनख के भक्षण में प्रवृत्त नहीं कर सकता। अपितु यह वाक्य तो पञ्चनख वाले जीवों के साथ–साथ अपञ्चनख वाले जीवों के भक्षण का निषेध करता है। अतः यहाँ परिसंख्या विधि है। परिसंख्या विधि दो प्रकार की होती है – श्रौती एवं लाक्षणिकी। श्रौती परिसंख्या द्वारा 'अत्र ह्येवावपन्ति' इस वाक्य में 'एव' शब्द से पवमानातिरिक्त स्तोत्र की निवृत्ति का अभिधा से कथन किया गया है; तथा लाक्षणिकी परिसंख्या द्वारा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में लक्षणा द्वारा अनपेक्षित क्रिया की व्यावृत्ति का वाचक पद के न होने पर भी निवृत्त किया गया है। अनपेक्षित क्रिया की व्यावृत्ति के वाचक पद के न होने पर निवृत्त कराने के कारण इस परिसंख्या में तीन प्रकार के दोष आ जाते हैं – श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध। 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में श्रुत पञ्चपञ्चनखभक्षण का परित्याग 'श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानात्' श्रुतहानि दोष है, अश्रुतार्थ की कल्पना अर्थात् पञ्चपञ्चनख के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भक्षण की निवृत्ति 'अश्रुताऽपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्' यह अश्रुतकल्पना दोष है तथा तृतीय दोष प्राप्त का बाध करना अर्थात् पञ्चनख एवं

अपञ्चनख का रागतः एवं शास्त्रतः भक्षण प्राप्त होने पर भी भक्षण का बाध ही प्राप्तबाध है – 'प्राप्तस्य च अपञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात्'।

इस प्रकार नियम विधि एवं परिसंख्या विधि के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जिस मन्त्र के अनुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ (द्रव्य–देवतादि) का बोध नहीं होता उस मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन कल्पित होता है – 'येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न सम्भवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्याऽदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति'। क्योंकि मन्त्रोच्चारण कभी भी निष्प्रयोज्य नहीं हो सकता है। मन्त्रोच्चारण से जब दृष्ट प्रयोजन प्राप्त होता है तब अदृष्ट प्रयोजन अप्राप्य होगा तथा जब दृष्ट प्रयोजन अप्राप्य होगा तब अदृष्ट प्रयोजन प्राप्त होगा। अतः मन्त्रों का दृष्टादृष्ट प्रयोजन सिद्ध है।

25.3 नामधेय से अभिप्राय

पूर्वोक्त वेद के पञ्चभागों में नामधेय तृतीय भाग है। नामधेय मीमांसा दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है जो विशेषरूप से याग के नाम का संज्ञान कराने वाला है। विजातीय पदार्थों से भिन्न एक निश्चित अर्थ का ज्ञान कराने वाला नामधेय है। 'नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम्' अर्थात् विजातीय की निवृत्तिपूर्वक विधेयार्थ के निश्चय करने में नामधेय की सार्थकता है। वेद के इस भाग में शब्द द्वारा उद्दिष्ट वाक्य के अप्राप्त याग का विधान कराया जाता है। यथा – 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस दृष्टान्त में उद्भिद शब्द किस अर्थ का बोधक है यह निश्चित करना है। यदि इस वाक्य में उद्भिदा शब्द हटाकर केवल 'यजेत पशुकामः' दृष्टान्त किया जाय तो इसका अर्थ होगा 'यागेन पशुं भावयेत्' इस वाक्य से एक ऐसे यागसामान्य का विधान हो रहा है जिसका नाम अभिधेय है। क्योंकि याग विशेष का नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत दृष्टान्त में उद्भिद शब्द खुरपा, कुदाली आदि के साथ यागविशेष का भी बोधक है। इसकी प्रथम व्युत्पत्ति– 'उद्भिद्यते उर्दध्वं विदीर्यते भूमिरनेनेति' अर्थात् जिससे भूमि की खुदाई होती है उस साधनविशेष को उद्भिद कहते हैं। किन्तु यह दृष्टान्त नामधेय का है इसलिए यहाँ उद्भिद का अर्थ खुरपा, कुदाली न करके यागविशेष ही लेते हैं। सर्वमान्य है कि किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए विशेष कर्म करना पड़ता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में पशुप्राप्ति रूप विशेष फल के प्राप्ति की इच्छा है अतः किसी विशेष याग की आवश्यकता है इसलिए उद्भिदा एवं यागेन दोनों शब्दों का सामानाधिकरण्य प्राप्त होने पर उद्भिद नामक विशेष कर्म का विधान किया गया है – 'उद्भिन्नामकेन यागेन फलं कुर्यात्' इत्युक्ते सामानाधिकरण्यं लभ्यते। गुणत्वे तु 'खनित्रेण साध्यो यो यागः तेन' इत्येवं वैयधिकरण्यं स्यात्। यदि खनित्रवता यागेन, इति सामानाधिकरण्यं योज्येत तदा मत्वर्थलक्षणा प्रसज्येत। तस्मादुद्भिदादिपदं नामधेयमिति'।

नामधेय होने के चार निमित्त बताये गये हैं –

1. मत्वर्थलक्षणा के भय से,
2. वाक्यभेद के भय से,
3. तत्प्रख्यशास्त्र से तथा
4. तद्व्यपदेश से।

25.3.1 मत्वर्थलक्षणा के भय से नामधेय

गुण एवं कर्म दोनों का एक साथ विधान करने वाली विधि ही नामधेय की प्रथम निमित्त होगी। यथा– 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में उद्भिद शब्द का नामधेयत्व मत्वर्थलक्षणा के भय से ज्ञात होता है। क्योंकि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं जैसे– 1. प्रस्तुत वाक्य का 'यागेन पशुं भावयेत्, उद्भिदा च यागं भावयेत्' यह अर्थ लेने पर याग पशुप्राप्ति का साधन होगा, उद्भिद नहीं। ऐसी स्थिति में उद्भिद गुणवाचक हो जायेगा एवं यागसामान्य ही पशुप्राप्ति का साधन होगा जो शास्त्रतः स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्य में दो साध्य हो जायेंगे। प्रथम, पशुप्राप्ति के साधन याग का साध्य एवं द्वितीय, याग के साधन उद्भिद का साध्य। अतः एक ही अर्थ के एकाधिक विधेयार्थ होने पर वाक्यभेद हो जाता है यह वाक्यदोष है। 2. जहाँ उद्भिद को खनित्र गुणवाचक साधन के रूप में पाया जाता हो– 'खनित्रेण साध्यो यो यागः तेन पशुं भावयेत्'। जैसे– 'दध्ना जुहोति' में दधि साधन है। तथा यह वाक्य गुणवाचक है क्योंकि इसका फलवाचक वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' है। किन्तु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में फलवाचक कोई अन्य वाक्य नहीं है अतः इस वाक्य को गुणवाक्य मानना असंगत है।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' का अर्थ यह ज्ञात होता है कि पशुप्राप्ति के लिए किसी के द्वारा उसके उपाय को जानने की इच्छा व्यक्त की जा रही है, अतः शास्त्रज्ञ द्वारा कहा जाता है कि– 'पशुकामो यजेत 'इत्यस्य पदद्वयस्य अयमर्थः– पशुरूपं फलं यागेन कुर्यात्' इति। तत्र 'केन यागेन' इत्यपेक्षायाम् 'उद्भिदा' इति तृतीयान्तं पदं यागनामत्वेन अन्वेति। 'उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेन' इति निरुक्त्या नामत्वमुद्भित्पदस्योपपद्यते' इति। यहाँ उद्भिद को यागविशेष का साधन मान लेने से मत्वर्थलक्षणा नाम दोष से मुक्ति मिल जाती है। अतः यहाँ मत्वर्थलक्षणा के भय से उद्भिद का यागविशेष नामधेय सिद्ध हुआ है। शास्त्रदीपिका में कहा भी गया है –

दध्यादौ गत्यभावेन सर्वमेतत्समञ्जसम्।
उद्भिदादिषु तन्नैवं नामधेयत्वसम्भवात्।।

25.3.2 वाक्यभेद के भय से नामधेय

विधिवाक्य से याग के दो अङ्गों का प्रकाशन होना आवश्यक है – द्रव्य एवं देवता। 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्र शब्द को वर्णविशेष का बोधक मानने पर विशिष्ट याग का विधान नहीं हो पायेगा क्योंकि 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' वाक्य से गुण का पूर्व में अवबोधन किया जा चुका है। अतः पशुयाग रूप फल एवं चित्ररूपगुण का सम्बन्ध मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा अत एव चित्रा शब्द यागविशेष का ही बोधक है। 'चित्रया यजेत पशुकामः' में चित्रा एवं याग का समानाधिकरण्य से अन्वय होने पर वाक्यभेद नाम का दोष नहीं होगा। इस प्रकार वाक्यभेद के भय से 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में चित्रा शब्द का चित्रवर्णरूप नहीं अपितु यागविशेष अर्थ ग्रहण किया जाता है।

25.3.3 तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेय

'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य में अग्निहोत्र शब्द का अर्थ यागविशेष ही लेना चाहिए क्योंकि शास्त्रों से ज्ञात होता है कि अग्निहोत्र नाम का यागविशेष होता है– 'अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति मायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः इति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तत्वात् देवता न विधेया। ततोऽग्निसूर्यदेवताकस्य

सायंप्रातःकालयोर्नियमेन अनुष्ठेयस्य कर्मणः अग्निहोत्रमिति यौगिकं नामधेयम्। योगश्च बहुव्रीहिणा दर्शितः। यहाँ अग्निहोत्र शब्द की कर्मनामधेयता तत्प्रख्यशास्त्र के कारण ज्ञात होती है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य को गुणविधि क्यों न माना जाय यदि ऐसी शंका की जाती है तो सिद्धान्तपक्ष द्वारा कहा जाता है कि यदि होम के आधार रूप में अग्निरूपी गुण का विधान किया जाये तो अनर्थ हो जायेगा क्योंकि इसी तरह 'यदाहवनीये जुहोति' वाक्य में भी आहवनीय को गुण मानना पड़ेगा तो इसका अर्थ होगा 'जब आहवनीय नामक अग्नि में हवन करता है' इस प्रकार यह विधि ही व्यर्थ हो जायेगी अतः यहाँ तत्प्रख्यशास्त्र से 'अग्निहोत्र' नामधेय होता है।

25.3.4 तद्व्यपदेश से नामधेय

व्यपदेश का सामान्य अर्थ उपमा करना है। उपमा नाम उपमान। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस वाक्य में श्येन शब्द बाज पक्षी का बोधक एवं सम्पूर्ण वाक्य गुणविधि है ऐसा पूर्वपक्ष का मत है। किन्तु सिद्धान्तपक्ष कहता है कि यहाँ श्येन की उपमा देकर विधेय कर्म की प्रशंसा की गयी है क्योंकि जिस प्रकार श्येन (बाज) पक्षी अपने शिकार (लक्ष्य) को झपटकर मार देता है वैसे ही श्येन याग भी अपकारी शत्रु को झपटकर मार देता है – 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्तः'। इस प्रकार 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस वाक्य से श्येन पक्षी की स्तुति अभीष्ट नहीं अपितु उससे उपमा देकर दूसरे पदार्थ (श्येन याग) की स्तुति की जा रही है। इस प्रकार श्येन शब्द तद्व्यपदेश से श्येनकर्म का नामधेय है।

इस प्रकार मत्वर्थलक्षणा का भय, वाक्यभेद का भय, तत्प्रख्यशास्त्र तथा, तद्व्यपदेश इन चार निमित्तों से नामधेय को सरलतापूर्वक समझा गया एवं इन चारों निमित्तों से नामधेय कैसे सिद्ध होता है यह जाना गया।

25.4 निषेध से अभिप्राय

निषेध का सामान्य अर्थ है – मना करना। यह वेद का चतुर्थ भाग है। अनिष्ट फलदायक कर्मों से मनुष्य को निवृत्त करने वाला वाक्य निषेध है – 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं वेदः'। अनिष्ट के कारणभूत क्रियाओं से पुरुष को हटाने में ही निषेध वाक्य की सार्थकता है – 'निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्'। इस प्रकार विधिवाक्य किसी कर्म के प्रति प्रवृत्त करता है तो निषेध वाक्य कर्म से निवृत्त करता है। जैसे – 'न कलञ्जं भक्षयेत्' अर्थात् विषाक्त बाण से मारे गये पशु का मांस नहीं खाना चाहिए। इस प्रकार कलञ्ज खाने से मनुष्य की मृत्यु भी हो सकती है जो उसके लिए अनिष्ट है अतः निषेध वाक्य मनुष्य को इस कर्म से निवृत्त करता है। इस प्रकार विधिवाक्य के श्रवण से यह विधि मुझे यागादि में प्रवृत्त करती है इस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है – 'विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतिः'। तथा निषेधवाक्य से निषिद्धस्थानों की निवृत्ति ही निषेध का वाक्यार्थ है – 'तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः'।

निषेधवाक्य में नञ् संयुक्त होता है यह अन्वित पद के अर्थ के विरोधी का बोध कराता है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस वाक्य में लिङ्ग के साथ उच्चरित 'नञ्' में लिङ्ग के प्रवर्तना के विरोधी निवर्तना का ही बोध कराता है– 'इह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयतीति'। क्योंकि जैसे विधिवाक्य के श्रवण से प्रवृत्ति होती है वैसे ही निषेधवाक्य के श्रवण से निवृत्ति होती है। जब लिङ् के अर्थ का

नञ् के अर्थ के साथ अन्वय होने में बाधक उपस्थित होता है तब धात्वर्थ का लिङर्थ से अन्वय होता है। यहाँ नञर्थ के अभाव के साथ लिङर्थ के अन्वय होने में दो बाधक हैं – 1. तस्य व्रतम् का उपक्रम एवं 2. विकल्प प्रसक्ति।

25.4.1 तस्य व्रतम् का उपक्रम

यहाँ व्रत शब्द कर्त्तव्य के अर्थ का बोधक है। 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' अर्थात् उदय एवं अस्त हो रहे सूर्य को न देखें। प्राचीन काल में गुरुकुल में पढ़ने वाले स्नातकों को यह व्रत दिया जाता था वहाँ 'तस्य व्रतम्' से प्रकरण प्रारम्भ करके 'नेक्षेत' इत्यादि पाठ है। यहाँ 'तस्य व्रतम्' एवं 'नेक्षेत' में एकवाक्यता होने पर कर्त्तव्यार्थ का बोध होता है। कर्त्तव्यार्थ का बोध न होने पर नञर्थ से लिङर्थ का अन्वय नहीं होगा। इस प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इसका वाक्यार्थ हुआ– 'आदित्यविषयक अनीक्षणसंकल्प से भावना करें'। पुनः यहाँ फल की अपेक्षा होने पर 'एतावता न सा वियुक्तो भवति' अर्थात् इतने से व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है। इस प्रकार नञर्थ का लिङर्थ से अन्वय न होने पर धात्वर्थ से विरोधी अनीक्षणसंकल्प अर्थ ग्रहण करने पर 'तस्य व्रतम्' 'नेक्षेत' तथा सभी वाक्यों से एक ही तात्पर्य का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार नञर्थ से लिङर्थ का बोध हो जाता है।

25.4.2 विकल्प प्रसक्ति

'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इस वाक्य में विकल्प की प्रसक्ति न हो इसलिए पर्युदास ग्रहण किया जाता है। यहाँ नञर्थ से लिङर्थ का अन्वय किया जाये तो अनुयाज यागों में 'ये यजामहे' वाक्य का प्रतिषेध होने लगेगा। इस प्रकार 'ये यजामहे' का निषेध होने पर प्राप्ति का ही निषेध होने लगा अतः प्राप्तिपूर्वक निषेध हुआ। इस प्रकार 'ये यजामहे' वाक्य की शास्त्रतः प्राप्ति हुई किन्तु शास्त्र से ही वाक्य का निषेध होने पर विकल्प होता है। परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों में बाध्यबाधकभाव होता है। इस प्रकार पदशास्त्र 'पदे जुहोति' को अपने अर्थ के विधान के लिए आवहनीय शास्त्र 'आहवनीये जुहोति' की अपेक्षा नहीं है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' में 'न' का अन्वय धात्वर्थ से करने पर निषेधवाक्य हो जाता है अतः इसमें 'यजतिषु ये यजामहं करोति' में विकल्प की प्रसक्ति अपरिहार्य है। यहाँ पर विकल्प का खण्डन करने के लिए दो हेतु उपस्थित हैं– 1. पाक्षिकाप्रामाण्य एवं 2. द्विरदृष्ट कल्पना। जिसमें प्रथम का अर्थ है– विकल्प ग्रहण करने पर शास्त्र के एक पक्ष में अप्रामाण्य आ जाता है। द्वितीय का अर्थ है– दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनुयाजों से भिन्न यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए इस वाक्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार वेद के चतुर्थ भाग निषेध का विवेचन अत्यन्त विस्तृत होने पर भी संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित किया गया।

25.5 अर्थवाद से अभिप्राय

अर्थवाद वेद का पंचम एवं अन्तिम भाग है। विधेयार्थ की प्रशंसा एवं निषेधार्थ की निन्दा करने वाला वाक्य अर्थवाद है– 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः'। वस्तुतः विधिवाक्य (पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यं विधिः) द्वारा प्रतिपादित अथवा विहित यागादि कर्म और निषेधवाक्य (पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः) द्वारा निषिद्ध कलंजभक्षण एवं ब्राह्मणहननादि कर्म ही अर्थवाद के विषय हैं– 'प्रयोजवदर्थो विधिनिषेधप्रातिपाद्ययागादि कलञ्जभक्षणनिवृत्तित्यादिरूपः'। अर्थवाद में संगति के लिए अभिधा द्वारा अर्थ का ग्रहण

न होने पर लक्षणा का भी आश्रय लिया जाता है क्योंकि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का आश्रयण शास्त्रमान्य है। लक्षणा का आश्रय लेने पर 'वायुदेव का स्तुतिगान' विधेय एवं 'रजतदक्षिणादान' निषेध कर्मों के प्राशस्त्य एवं निन्दितत्व का प्रतिपादक अर्थवाद हो जायेगा। इस प्रकार विधेय एवं निषिद्ध का ज्ञान होने पर प्राशस्त्य एवं निन्दित कर्मों में अर्थवाद से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है – 'तत्पर्यवसानं तद्गतश्रेयस्त्वप्रतिपादनोपक्षीणम्। तथा च 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्यं लक्षणया विधिबोधितकर्मविशेषस्य श्रेयस्त्वं प्रतिपादयति। 'सोऽरोदीदि'त्यादिवाक्यञ्च निषेध्यनिन्दनमुखेन निषेधवाक्यावगततन्निवृत्तेः श्रेयस्त्वमवगमयतीति प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरवाक्यत्वरूपलक्षणाक्रान्तेनेवेति नाव्याप्तिरिति भावः'। इस प्रकार अर्थवाद द्वारा विधि एवं निषेध परक कर्मों का ज्ञान होता है।

अर्थवाद के मुख्यतः दो प्रभेद हैं – 1. विधिशेष एवं 2. निषेधशेष।

25.5.1 विधिशेष

विधिशेष में विधि और शेष दो शब्द हैं जहाँ विधि का अर्थ है– पुरुष को प्रवृत्त करने वाला वाक्य– 'पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यं विधिः' तथा शेष का अर्थ है– अवशिष्ट, अंश, पूरक, उपकारक। इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद वह है जो विधिवाक्य के अवशिष्ट अंश की भाँति प्रतीत होने वाला तथा विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके विधिवाक्य के अर्थ का पूरक होता है अतः विधिवाक्य का उपकारक विधिशेष होता है– 'विधिशेषो विध्युपकारकः'। और विधि एवं अर्थवाद में एकवाक्यता मानी जाती है क्योंकि दोनों मिलकर एक वाक्य के अर्थ का बोधन करते हैं– 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः'।

विधिशेष का उदाहरण है – 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' अर्थात् 'ऐश्वर्यप्राप्ति की अभिलाषा करने वाला व्यक्ति वायु देवता के लिए श्वेतपशु का आलम्भन करे' यह विधिवाक्य है इसका शेषवाक्य अर्थात् अर्थवाद वाक्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु तीव्रगामी देवता है। इस प्रकार – 'यतः क्षिप्रगामितया क्षिप्रफलप्रदो वायुरस्य पशोर्देवता, अतः प्रशस्तमिदं वायव्यश्वेतालम्भनमित्येवं विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयेत्यर्थः' यह वाक्य है। इस प्रकार प्रस्तुत विधिवाक्य यज्ञादि रूप कर्म की प्रशंसा करके सार्थकता को प्राप्त होता है– 'वायुः क्षिप्रगामित्वादतीवप्रशस्ता देवता भवत्यस्तदैवत्यं कर्म प्रशस्तमिति विधेयकर्मदेवतागतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्वमित्यर्थः'। यहाँ 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वाक्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस विधि वाक्य का पूरक माना गया है।

25.5.2 निषेधशेष

यहाँ निषेधशेष में भी दो शब्द हैं – निषेध एवं शेष। जहाँ निषेध का अर्थ है – 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः' अर्थात् पुरुष को किसी अनिष्ट कर्म से निवृत्त करने वाला अर्थवाद वाक्य निषेध है। तथा शेष का अर्थ–अवशिष्ट, अंश, पूरक, उपकारक है। निषेध वाक्य का उपकारक निषेधशेष होता है– 'निषेधशेषो निषेधोपकारकः'। वस्तुतः निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करने वाले अर्थवाद को निषेधशेष कहते हैं।

निषेधशेष का उदाहरण है– 'बर्हिषि रजतं न देयम्' अर्थात् याग में रजत की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए, यह निषेधवाक्य है इसका शेषवाक्य है– 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' अर्थात् वह रोया, जो रोया वही रुद्र की रुद्रता है। इससे यह विदित होता है कि यज्ञादि में रजत का दान नहीं देना चाहिए क्योंकि यदि रजतदान होगा तो घर में रोने का प्रसंग उत्पन्न होगा– 'यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं

भवति' अर्थात् जो यज्ञ में रजतदान करेगा उसका वर्ष के भीतर ही रोदन अवश्यम्भावी है अथवा उसके घर में रोदन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार प्रकृत वाक्य में अर्थवाद द्वार निषेध्य रजतदान की निन्दा की गयी है। अतः निषेधशेष संज्ञक अर्थवाद का प्रयोजन निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा का बोध कराना है यही निषेधशेष का अर्थवत्त्व है– 'निषेधशेषस्य निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्'। इस प्रकार इस अर्थवाद से निषेध्य वाक्य द्वारा निषिद्ध रजतदान की निन्दा होने से निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों में एकवाक्यता स्थापित की गयी है– 'यतोऽस्य रोदनं जातमतो वर्षाभ्यन्तरे रोदनस्यावश्यम्भावितेति प्रतिपादनद्वारेण बर्हिषि रजतदानस्य निषेध्यस्य निन्दितफलजनकतया निन्दितत्वबोधनेनार्थवत्त्वमित्यर्थः'। इस प्रकार विधिशेष एवं निषेधशेष अर्थवाद से प्राशस्त्य एवं निन्दापरक वाक्यों का बोध होता है तथा तत्परक कर्मों का सम्पादन भी होता है।

प्रकारान्तर से अर्थवाद के तीन अन्य भेद किये गये हैं– 1. गुणवाद, 2. अनुवाद एवं ३. भूतार्थवाद। इन तीनों भेदों का स्वरूप एक श्लोक में द्रष्टव्य है–

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ।।

25.5.3 गुणवाद

जहाँ अर्थवाद का किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा विरोध होता है वहाँ गुणवाद अर्थवाद होता है– 'प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः'। गुणवाद का एक अन्य लक्षण भी द्रष्टव्य है– 'प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधकत्वं यत्र स गुणवादः'। गुणवाद का उदाहरण है– 'आदित्यो यूपः' यहाँ आदित्य सूर्य को कहते हैं और पशुयाग में पशु को जिस स्तम्भ में बांधा जाता है उसे भी यूप कहते हैं। यूप की स्तुति करते समय उसे 'आदित्यो यूपः' कहा जाता है, इस वाक्य में आदित्य को यूप कहा गया है, आदित्य एवं यूप में अभेद बताया गया है किन्तु आदित्य तो उज्ज्वल चमकता हुआ पिण्ड है और यूप एक यज्ञस्तम्भ है अतः दोनों में अभेद नहीं हो सकता है। अतः 'मुख्यार्थबाधे लक्षणा' इस शास्त्रन्याय से लक्षणा करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। लक्षणा गुणों को आश्रित करके प्रवृत्त होती है। 'आदित्यो यूपः' इस वाक्य में लक्षणा करने पर आदित्य उज्ज्वलत्व रूप गुण का बोधक होगा तथा दिव्य होने के कारण यूप में भी उज्ज्वलत्व है इस प्रकार आदित्य एवं यूप के गुणों में ऐक्यता हो जाती है अतः 'आदित्यो यूपः' का अर्थ होगा– 'यज्ञस्तम्भ आदित्य की भाँति चमकने वाला है'। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य का वाक्यार्थ होगा– 'यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते'। इस प्रकार वाक्य का वाच्यार्थ बाधित कर उसके गुणरूप अर्थ का लक्षणा से बोधित होने के कारण गुणवाद नामक अर्थवाद का भेद होगा।

25.5.4 अनुवाद

किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात विषय का पुनरुपपादन अनुवाद कहलाता है। 'अनुवादोऽवधारिते' अर्थात् अनुवाद का प्रतिपाद्य विषय अन्य प्रमाण से ज्ञात रहता है। अर्थसंग्रह में अनुवाद का लक्षण किया गया है– 'प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः' अर्थात् दूसरे प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का ज्ञापक अर्थवाद अनुवाद कहलाता है। अनुवाद का उदाहरण है– 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अर्थात् अग्नि शैत्य की औषधि होती है। शीतकाल में ठण्ड का प्रकोप बढ जाता है तो लोग ठण्ड से बचने के लिए अग्नि का आश्रय ग्रहण करते हैं अर्थात् अग्नि के पास

बैठते हैं। यहाँ प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है कि अग्नि शैत्य को दूर करने का साधन है। वस्तुतः अग्नि शैत्य का नाशक है यह तो पूर्व से ही ज्ञात था किन्तु इस अर्थवाद द्वारा पूर्वज्ञात विषय का पुनः ज्ञापन कराने के कारण 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' वाक्य को अनुवाद की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार अग्नि के हिमविरोधित्व धर्म का 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' वाक्य द्वारा अनुवाद होने के कारण इस अर्थवाद को अनुवाद नाम दिया गया है।

25.5.5 भूतार्थवाद

प्रकारान्तर से भेद किये गये अर्थवाद का तीसरा प्रकार भूतार्थवाद है। जिस वाक्य में विरोध एवं निश्चय दोनों न हो वह भूतार्थवाद है इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि जिस अर्थवाद में गुणवाद की तरह प्रमाणान्तरविरोध न हो तथा अनुवाद की तरह प्रमाणान्तरावधारण न हो वह भूतार्थवाद अर्थवाद होता है। अर्थात् भूतार्थवाद में प्रमाणान्तरविरोध एवं प्रमाणान्तरावधारण दोनों का अभाव होता है। अर्थसंग्रहकार कहते हैं– 'प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः' अर्थात् दूसरे प्रमाण से होने वाले बाध एवं बोध दोनों से रहित विषय का ज्ञापक अर्थवाद भूतार्थवाद होता है। वस्तुतः भूतार्थवाद द्वारा ऐसे विषय का ज्ञान कराया जाता है जिसको किसी अन्य प्रमाण द्वारा नहीं जाना सकता। भूतार्थवाद का उदाहरण है– 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' अर्थात् 'इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिए वज्र उठाया'। यह वृत्तान्त अतिप्राचीन है। इस वृत्तान्त को किसी ने देखा–सुना नहीं है इसलिए इसका प्रमाणान्तर से न विरोध हो सकता है और न ही समर्थन, इस ज्ञान का ज्ञापक केवल यह वाक्यमात्र है। इस प्रकार 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' वाक्य का प्रमाणान्तर से विरोध अथवा समर्थन प्राप्त नहीं है अतः भूतार्थवाद नामक अर्थवाद है।

इस प्रकार अर्थवाद का प्रथमतः वाक्यशेष एवं निषेधशेष के भेद से विभाजन करके विवेचन प्रस्तुत किया गया पुनः प्रकारान्तर से गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद के भेद से अर्थवाद का विभाजन कर उदाहरणों के साथ सम्यक्तया प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है।

25.6 सारांश

भारतीय दार्शनिक परम्परा में आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत निरूपित मीमांसादर्शन के प्रकरण ग्रन्थ अर्थसंग्रह में वर्णित वेदों के पंचभागों में से अन्तिम चार भागों– मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद का विवेचन मीमांसादर्शन के साध्य धर्म की प्राप्ति के लिए किया गया है। इनके सम्यक् विवेचन का सार इस प्रकार है–

वेद को भलिभाँति जानने के लिए इन मन्त्रादि को जानना अत्यन्त आवश्यक है तथा नियम एवं परिसंख्या विधि के विना मन्त्र के प्रयोजन को नहीं जाना जा सकता है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं लेकिन प्रकरणानुसार ही अर्थ लेना चाहिए। निमित्त के उपस्थित होने पर भी किसी शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। निषेध का अभिप्राय कर्म में प्रवृत्ति से सर्वदा रोकना नहीं है अपितु अनिष्ट कर्मों के सम्पादन से रोकना है। प्राशस्त्य कर्मों में प्रवृत्ति एवं निन्दित कर्मों से निवृत्त कराना अर्थवाद का प्रयोजन है। अर्थवाद का मुख्य प्रयोजन इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट से परिहार ही है एवं मन्त्रादि का ज्ञान ही किसी वाक्य के सम्यग् वाक्यार्थ का बोध कराता है।

25.7 शब्दावली

अग्निष्टोम – सोमसंस्था का याग विशेष।

अपूर्व – यागादि के अनुष्ठान से उत्पन्न होकर भविष्य में फल देने वाला।

अर्थवाद – अर्थ–प्रयोजन का कथन अर्थवाद है।

उपक्रम – तात्पर्य का ग्राहक।

क्रतु – याग।

चोदना – प्रेरणा।

बर्हिष – चौंसठ या सोलह कुशों की मुष्टि।

मन्त्र – वेदवचन।

याग – किसी देवता को उद्देश्य करके विहित द्रव्य का घृत, यवादि का त्याग।

यूप – विहित काठ का मानवमुखाकृति खम्बा जैसा याग का उपकरण।

विधि – अज्ञात तथा श्रेयस् के साधन का बोधक वेदवाक्य।

स्वर्ग – जिसमें दुःख का अंशमात्र स्पर्श न हो।

हविष् – यज्ञादि में जिससे हवन किया जाये।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थमीमांसा नाम हिन्दी व्याख्य एवं भाष्य, हिन्दी भाष्यकार– डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, संस्करण– वि.सं. 2016।
2. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, प्रकाशिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 2014।
3. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, अर्थालोक नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– पट्टाभिराम शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. वाचस्पति मिश्र, वाराणसी,चौखम्भा ओरियण्टालिया, 1990।
4. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, दीपिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामी, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1979।
5. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, सार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थबोधिनी नाम हिन्दी टीका, हिन्दी टीकाकार– डॉ. दयाशंकर शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2003।
6. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 2016।
7. भारतीय दर्शन, डॉ. नन्द किशोर देवराज, लखन0, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2002।

8. भारतीय दर्शन, डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005।
9. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009।
10. मीमांसामंजरी, र.. तङ्गस्वामी शर्मा, नई दिल्ली, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, 1996।
11. मीमांसा के पारिभाषिक पदों का परिचय, डॉ. किशोरनाथ झा, नई दिल्ली, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2013।

25.9 अभ्यास प्रश्न

1. धर्म का स्वरूप बताते हुए मन्त्र का विश्लेषण करें।
2. वेद के तृतीय भाग नामधेय का स्वरूप बतायें।
३. निषेध का प्रतिपाद्य बतायें।
4. अर्थवाद पर प्रकाश डालें।
5. वेद के भागों का महत्त्व बतायें।
6. अनुवाद एवं भूतार्थवाद का प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए।

इकाई 26 अपूर्व, नियम, परिसंख्या, विनियोग, प्रयोग एवं अधिकार विधि

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- अर्थसंग्रह में वर्णित अपूर्वविधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में प्रतिपादित नियमविधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित परिसंख्याविधि के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे; तथा
- प्रतिपाद्य विषयों में वर्णित नये पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय को जान सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ का दर्शन अथवा ज्ञान होता है उसे दर्शन कहते हैं। सभी को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने वाले भारतीय परम्परा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अध्यात्मविद्या की प्रशंसा करते हुए कहा है– 'अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्'। यह अध्यात्मविद्या ही दर्शन नाम से प्रसिद्ध है। दर्शनशास्त्र के ज्ञान से उचितानुचित का बोध होता है जिससे मनुष्य हितकर कर्म करता है एवं अहितकर कर्म त्याग देता है। भारतीय दर्शन के नास्तिक एवं आस्तिक के भेद से दो विभाजन हुए, पुनः चार्वाक, बौद्ध एवं जैन के रूप में नास्तिक का तथा आस्तिक का सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त के रूप में विभाजन हुआ। इस प्रकार क्रमशः नास्तिक के 3 एवं आस्तिक के 6 भेद हुए। मीमांसा दर्शन

आस्तिक दर्शन का सर्वश्रेष्ठ एवं कर्मकाण्डपरक दर्शन है। मीमांसा शब्द मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। मीमांसा शब्द पूजितविचार अर्थ का द्योतक है जो परमपुरुषार्थ मोक्ष के हेतु का सूक्ष्मतम विचार करता है– 'पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता'। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि ने प्रथम सूत्र में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' कहकर धर्म को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की है। जहाँ 'अथ' शब्द 'वेदाध्ययन के अनन्तर' का बोधक है तथा 'अतः' शब्द 'वेदाध्ययन के दृ ष्टप्रयोजन' का बोधक है। इसकी लौगाक्षिभाष्कर कृत अर्थसंग्रह के प्रारम्भ में बहुत ही सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। जहाँ 'यागादिरेव धर्मः' धर्म का प्रारम्भिक लक्षण किया गया है तथा 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस लक्षण द्वारा धर्म का अर्थ अत्यधिक स्पष्टता से प्रतिपादित किया गया है। मीमांसासूत्र में प्रतिपादित 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' एवं 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' धर्म के लक्षणों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि चोदना शब्द प्रेरकार्थबोधक होने से सम्पूर्ण वेद का बोधक है एवं वेद का तात्पर्य धर्म ही है इस प्रकार सूत्रग्रन्थ एवं अर्थसंग्रह में निरूपित धर्म के लक्षण में कोई वैमनस्य नहीं है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में धर्म का लक्षण प्राप्त होता है– 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। महाभारत में– 'धारणाद् धर्मं इत्याहुः'। धर्म का इतने विस्तार से वर्णन प्राप्त होने के कारण ही मीमांसा दर्शन को धर्मविचारशास्त्र भी कहा गया है– 'अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयम्'। विभिन्न शास्त्रों में इसे धर्ममीमांसा नाम से भी सम्बोधित किया गया है– 'धर्ममीमांसावत् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्याक्षेप्तं शक्यते भामतीं'। अर्थसंग्रह के रचयिता लौगाक्षिभास्कर हैं इनका वास्तविक नाम भास्कर है, लौगाक्षि नाम इनके कुल का है इसलिए इन्हें लौगाक्षिभास्कर कहा गया। इनका समय 16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं 17वीं शताब्दी का पूर्वाद्ध है। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं– मीमांसा दर्शन की अर्थसंग्रह एवं वैशेषिक दर्शन की तर्ककौमुदी। अर्थसंग्रह पर रामेश्वर शिवयोगी की कौमुदी, कृष्णनाथ न्यायपंचानन की प्रतिपादिका, जीवानन्द विद्यासागर की टीका, श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण की अमला, पट्टाभिराम शास्त्री की अर्थालोक आदि संस्कृत टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी एवं अंग्रेजी में भी अनेक अनुवाद में कार्य हुए हैं।

26.2 अपूर्वविधि परिभाषा एवं व्याख्या

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मीमांसा दर्शन का मुख्य विषय धर्म की व्याख्या करना है तथा मीमांसा दर्शन में वेद को धर्मस्वरूप स्वीकार किया गया है। इस प्रकार धर्म को समझने के लिए वेद को जानना अत्यन्त आवश्यक है। पुनः वेद क्या है? 'विद् ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर वेद शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ है– ज्ञान की राशि। ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वेद का अर्थ किया है– 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः' अर्थात् जिससे धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय के स्वरूप का बोध हो, जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त हो तथा जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। चारों वेदों पर भाष्य करने वाले सायणाचार्य वेद का स्वरूप बताते हुए कहते हैं– 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मन्त्र एवं ब्राह्मण को वेद के नाम से जाना जाता है– 'वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। मीमांसा दर्शन में अपौरुषेय वाक्य को वेद कहा गया है – 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'। वेद के पाँच भेद किये गये हैं– 1. विधि, 2. मन्त्र, 3. नामधेय,

4. निषेध एवं 5. अर्थवाद। वेद के ये पाँच भेद वेद को भलिभाँति जानने के उद्देश्य से किये गये हैं।

इनमें प्रथम भेद विधि है इसका लक्षण है– 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' अर्थात् अज्ञात अर्थ (इष्ट) का ज्ञान कराने वाले वेद के अंश को विधि कहते हैं। जैसे– 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य में अग्निहोत्र कर्म द्वारा अबोधित स्वर्गरूपी इष्ट अर्थ का ज्ञान कराया गया है अर्थात् 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करें' यह अर्थ बोधित होता है। इस अज्ञात अर्थ का ज्ञापन कराने वाला वेद का अंश विधि है। वेद का द्वितीय भाग मन्त्र है। मन्त्र का लक्षण करते हुए अर्थसंग्रहकार ने कहा है– 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' अर्थात् कर्मानुष्ठान के समय द्रव्य देवता आदि पदार्थों का स्मरण कराने वाले वेदभाग को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के मुख्यतः दो प्रयोजन हैं– अदृष्ट प्रयोजन एवं दृष्ट प्रयोजन। अदृष्ट प्रयोजन का अर्थ है– स्वर्गादि की कामना। दृष्ट प्रयोजन का अर्थ है– मन्त्रोच्चारण से कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध द्रव्य–देवतादि का स्मरण। सर्वज्ञात है कि दृष्ट प्रयोजन के प्राप्त होने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना नहीं की जा सकती– 'दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'। अन्यत्र भी कहा गया है–

> लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
> विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।।

अतः मन्त्र का दृष्ट प्रयोजन द्रव्य–देवतादि का स्मरण प्राप्त है तो स्वर्गादि अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना से कोई लाभ नहीं। दूसरा मत यह है कि द्रव्य–देवतादि का स्मरण यदि दूसरे किसी साधन से कर लिया जाय तो मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध हो जायेगा एवं दृष्ट भी। किन्तु शास्त्रविहित है कि 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्यादिति' मन्त्रों का स्मरण करके ही कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। मन्त्र के अर्थ का ज्ञापन कराने के लिए कुछ विधियों का प्रयोग किया गया है– नियम विधि एवं परिसंख्या विधि। नियम विधि का विवेचन करने क्रम में ही अपूर्व विधि का प्रसंगवश उल्लेख प्राप्त होता है।

अपूर्व विधि वह विधि है जो अत्यन्त अप्राप्त का विधान करती है– 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'। यह लक्षण तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने दिया है। अपूर्व विधि का सामान्य अर्थ है कि जो विधान विभिन्न विधियों के होने पर भी अत्यन्त अप्राप्त हो उसका किसी विशेष विधि द्वारा विधान हो जाना अपूर्व विधि है– 'अप्राप्तप्रापकत्वञ्च प्राथमिकप्रवृत्तिजनकप्रतीतिजनकत्वम्, प्रमाणान्तरजन्यप्रतीत्यविषयविषयकप्रतीतिजनकत्वं वा'। अर्थसंग्रहकार अपूर्व विधि का लक्षण करते हुए कहते हैं कि– 'प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः' अर्थात् दूसरे अन्य प्रमाणों से अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि अपूर्व विधि है। इस प्रकार क्रिया से सम्बद्ध किसी विधान के प्राप्त न होने पर उस विषय में विधायक मन्त्र का प्राप्त हो जाना अपूर्व विधि है। इस विषय में जो विधायक वाक्य है उसके अतिरिक्त अन्य कोई वाक्य नहीं होता इसीलिए अपूर्व विधि के लक्षण में बार–बार 'प्रमाणान्तरेण' कहा जा रहा है। तथा 'अप्राप्तौ' कहने का आशय यह है कि इसके पूर्व अन्य किसी भी विधि का प्राप्त न होना है। इस प्रकार अपूर्व विधि का समन्वय लक्षण हुआ– 'प्रमाणान्तरेण तदर्थत्वेनाप्राप्तस्य तदर्थत्वेन प्रापको यो विधिः अपूर्वविधिरित्यर्थः'।

अपूर्व विधि का उदाहरण है– 'यजेत स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की इच्छा से यज्ञ करना चाहिए। वस्तुतः इससे पूर्व अन्य कोई विधि नहीं थी जो यह बताती कि स्वर्गप्राप्ति के

लिए यज्ञ सम्पादन करना चाहिए। जैसे– तन्तु की सत्ता होने पर पट की सत्ता होती है तथा तन्तु का अभाव होने पर पट का भी अभाव होता है इस प्रकार का तन्तु एवं पट में कार्यकारणभाव सर्वविदित है ठीक वैसे ही याग एवं फलप्राप्ति अथवा स्वर्गप्राप्ति में भी कार्यकारणभाव होता है। स्वर्गप्राप्ति की भावना से किये गये यज्ञ से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा यज्ञ के अभाव में स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। इसीलिए 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य से स्वर्ग की कामना की जाती है। वस्तुतः इस विधि के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से स्वर्गप्राप्ति सम्भव नहीं है तथा इस वाक्य से पूर्व भी अन्य कोई विधि ज्ञात नहीं है अतः विधियों के अप्राप्त होने पर जिस विधि के द्वारा किसी कर्म का विधान किया जाता है वही अपूर्व विधि है। इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य से ज्ञात होता है कि याग के द्वारा ही स्वर्ग की इष्ट भावना करनी चाहिए– 'स्वर्गार्थकत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य यागस्य तदर्थत्वेन 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यनेन विधानाद्भवत्ययमपूर्वविधिरित्यर्थः'।

26.3 नियमविधि : परिभाषा एवं व्याख्या

वेद के द्वितीय भाग मन्त्र को भलीभाँति समझने के लिए जिन दो विधियों का नामोल्लेख किया गया है वे हैं– नियम विधि एवं परिसंख्या विधि। सम्प्रति नियम विधि विवेच्य है। तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने नियम विधि का लक्षण किया है– 'नियमः पाक्षिके सति' अर्थात् पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने विधि को नियम कहते हैं। लक्षण करते हुए अर्थसंग्रहकार कहते हैं– 'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् जहाँ एक ही क्रिया की सिद्धि के लिए अनेक साधन प्राप्त हों किन्तु किसी एक साधन के प्राप्त होने पर अन्य अप्राप्त साधनों की भी प्राप्ति करा दे ऐसी विधि का नाम नियम विधि है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अपूर्व विधि भी अप्राप्त का प्रापक है एवं नियम विधि भी अप्राप्त का प्रापक है पुनः दोनों में भेद क्या है? तो समाधान इस प्रकार है– अपूर्व विधि भी अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि है लेकिन वहाँ जो अप्राप्त है वह किसी अन्य साधन अथवा वाक्य से प्राप्त नहीं है किन्तु नियम विधि में जो अप्राप्त है वह किसी कर्म के सम्पादन में प्राप्त अनेक साधनों में से जो साधन अत्यन्त सरल एवं स्वभावतः सुगम होता है किन्तु वह भी अप्राप्त ही होता है अतः यहाँ भी अप्राप्त का ही ग्रहण किया जाता है। द्वितीय समाधान यह है कि अपूर्व विधि में अत्यन्त अप्राप्त की प्राप्ति होती है तथा नियम विधि में अंशतः अप्राप्त की अथवा पक्ष में अप्राप्त की प्राप्ति होती है।

अनेक साधनों के प्राप्त होने पर भी अप्राप्त साधन का विधान कराने वाली विधि नियम विधि है इसको सरल रूप में इस प्रकार भी कह सकते हैं– 'यश्च पक्षे प्राप्तमर्थं नियमयति, पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिः, अत्यन्ताप्राप्तिफलको विधिः, साधनद्वयस्य पक्षप्राप्तौ अन्यतरस्य साधनस्याप्राप्ततादशायां यो विधिरिति वा नियमविधिलक्षणानि भवन्तीति'। जैसे– यज्ञ में अग्नि प्रज्वलन के लिए माचिस, दीपक अथवा अन्य साधन भी प्राप्त हैं किन्तु इन सभी साधनों का त्यागकर जो अप्राप्त साधन है अर्थात् लकड़ी घींसकर अग्नि जलाना, इस अप्राप्त विधि द्वारा ही यज्ञ में अग्नि को जलाते हैं, अतः अग्नि जलाने के लिए विभिन्न के प्राप्त होने पर भी अप्राप्त लकड़ी घींसकर जलाने की विधि का विधान करने वाली विधि नियम विधि है 'अनेकसाधनमध्ये अप्राप्तिपक्षं नियमयतीति नियमविधिरिति वक्तव्यम् एकैकस्य प्राप्तौ सत्यां तादृशानेकसाधनमध्ये यदेकं किञ्चिदिष्टं तस्य साधनस्य यो विधिः स नियमविधिः'। यहाँ जो इष्ट है यदि यज्ञकर्ता

द्वारा स्वभावतः वह ग्रहण किया जाता है तो वहाँ नियम विधि कार्य नहीं करती। किन्तु इष्ट से व्यतिरिक्त किसी अन्य साधन को लेकर यज्ञकर्ता प्रवर्तित होता है तो वहाँ नियम विधि उपस्थित होकर अप्राप्त इष्ट साधन को प्राप्त कराती है तब अनिष्ट साधन की निवृत्ति हो जाती है तथा उस अनिष्ट साधन का नियमन करने वाली विधि नियम विधि है– 'तत्र च यदिष्टं तदेव यदि कदाचित् स्वभावत एव कर्ता गृह्णाति तदा नियमविधेर्न किञ्चित् कृत्यम्। किन्तु तादृशेष्टसाधनव्यतिरिक्तं किञ्चित् साधनं ग्रहीतुं प्रवर्तते तदा अयं विधिः उपस्थितो भूत्वा इष्टं साधनं तदानीमप्राप्तं ग्राहयति। तदा अनिष्टस्य साधनस्यार्थिकी निवृत्तिर्भवति। एवं च अनिष्टं साधनं नियमन्नयं नियमविधिरुच्यते'।

मीमांसाशास्त्र में अनुष्ठान के समय अर्थस्मरण (द्रव्य–देवतादि) के अनेक साधन सन्निहित हैं, जिसमें ब्राह्मणवाक्य एवं मन्त्रोच्चारण प्रमुख हैं। यागानुष्ठान के समय यदि कोई ब्राह्मणवाक्य साधन से ही अर्थस्मरण करना चाहता है और मन्त्रोच्चारण को निकृष्ट मानता है, अतः मन्त्रोच्चारणरूपी द्वितीय साधन अप्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' विधि द्वारा मन्त्रोच्चारण साधन को ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा प्रमुख साधन के रूप में उपस्थित कर दिया जाता है इस अप्राप्त का विधान जिस विधि द्वारा होता है वही नियम विधि है। अर्थसंग्रहकार ने नियमविधि का अन्य लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है– 'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि को नियमविधि कहते हैं।

नियम विधि का उदाहरण है– 'व्रीहीनवहन्ति' अर्थात् व्रीहीन् का अवहनन करना चाहिए। दर्शपूर्णमासादि जैसे बड़े यज्ञों में पुरोडाश के निर्माण के लिए तण्डुलनिष्पत्ति (चावल का छिलका निकालना) एक प्रमुख कर्म होता है। क्योंकि यज्ञ में चावल (धान) की ऐसे ही आहुति नहीं दी जाती अतः तण्डुलनिष्पत्ति आवश्यक है। ऐसी अवस्था में तण्डुलनिष्पत्ति के लिए मुख्य रूप से दो साधन प्राप्त होते हैं– 1. नखविदलन, 2. अवहनन। इस अवस्था में अवहनन साधन की अपेक्षा नखविदलन कर्म को प्रमुखता देते हुए यज्ञकर्ता तण्डुलनिष्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु नखविदलन द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति करना शास्त्रीय विधि से सही नहीं है इसलिए नियम विधि द्वारा अप्राप्त होने पर भी अवहनन विधि द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति का विधान किया जाता है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि नखविदलन रूप एक साधन के प्राप्त होने पर भी अवहनन रूप अप्राप्त साधन को शास्त्रीय विधि से सही होने पर विधान कर देना नियम विधि का ही कार्य है– 'तत्र व्रीहिषु नखविदलनमुसलावहननयोः प्राप्तौ मुसलावहननमेव नियम्यते। व्रीहीनवहन्तीति विध्यभावे दर्शपूर्णमासादिकेषु व्रीहिषु उत्पत्तिवाक्यावगतपुरोडाशोपयोगितण्डुलनिष्पत्यनुकूल–वैतुष्यकार्याय अवहननवत् कदाचित् नखविदलनमपि प्राप्नुयात् इति तस्मिन् पक्षे अवहननस्य प्राप्त्यभावात् कार्यान्यथोपपत्तेः अवहननस्य पाक्षिकी प्राप्तिः स्यात्। सत्यस्मिन् विधौ अवहनेनैव वैतुष्यं कार्यमिति नियमे सति विदलनं सर्वात्मना निवर्तत इति नियमविधिरयम्'।

इस प्रकार 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य में नियम विधि द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति में अप्राप्त साधन अवहनन का नियम विधि द्वारा विधान किया जाता है– 'वेतुष्यस्य हि नानोपायसाधय्त्वाद्यदाऽवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदाऽवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते, अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः'। इस प्रकार अवहनन रूप साधन के अप्राप्त होने पर भी उस अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाली विधि नियम विधि है।

अपूर्व विधि में प्राप्त 'अत्यन्त अप्राप्त' एवं नियम विधि में प्राप्त 'अंशतः अप्राप्त' में जो अन्तर है वह आगे निर्दिष्ट है–

'The Distinction between विधि and नियम may thus be stated. Both विधि and नियम enjoin things, which are अप्राप्त.But while विधि enjoins a matter, which is अत्यन्त अप्राप्त or प्रमाणान्तरेण अप्राप्त' not known from any other source' नियम lays down a matter which is only पक्षे अप्राप्त (nor established in the alternative). Secondly, विधि represents an injunction, pure and simple, of a matter not known from any other source, नियम on the other hand asks us to perform a thing, already known from an other source, in some special manner. Thirdly विधि performs a single function. Viz. enjoining a thing unknown before, but नियम performs two really, because it restricts us to one of the many alternatives and excludes the others.

यदि कोई प्रश्न करे कि 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य में अप्राप्त पदार्थ का विधान कैसे सम्भव होगा जब वह पूर्व से ही अप्राप्त है? तब सिद्धान्तपक्ष कहता है कि 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य द्वारा तण्डुलनिष्पत्ति रूप कार्य हेतु अवहनन रूप साधन विधान नहीं किया जाता क्योंकि यह तो अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में तण्डुलनिष्पत्ति कार्य हेतु अवहनन रूप साधन अप्राप्त हो गया। अतः नखविदलनादि अनेक उपायों द्वारा यह कार्य सिद्ध हो सकता है। किन्तु अन्य सभी साधनों के प्राप्त होने पर भी अवहनन रूप अप्राप्त साधन का विधान करना नियम विधि है अतः नियम में अप्राप्त अंश की पूर्ति के लिए नियम विधि का बोध होता है।

26.4 परिसंख्याविधि : परिभाषा, प्रकार एवं व्याख्या

वेद के द्वितीय भाग मन्त्र को भलीभाँति समझने के लिए जिस दूसरी विधि का उल्लेख प्राप्त होता है वह परिसंख्या विधि है। परिसंख्या का शाब्दिक अर्थ है– निवृत्ति कराना। यहाँ परि शब्द वर्जनार्थक है तथा संख्या शब्द बुद्धि (ज्ञान) का बोधक है इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यहाँ अर्थ हुआ– वर्जन कराने वाली बुद्धि अथवा ज्ञान। अतः 'परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थः। 'परिर्वर्जने' 8.1.5 इति पाणिनिसूत्रे। संख्या बुद्धिः। परिसंख्या वर्जनबुद्धिः। परिसंख्याजनकः विधिः परिसंख्याविधिः'। इस प्रकार परिसंख्या विधि का अर्थ हुआ– निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि। अतः परिसंख्या विधि को इस रूप में भी अभिव्यक्त कर सकते हैं– 'एकस्मिन् प्रधाने नियतप्राप्तस्य अङ्गद्वयस्य एकस्मिन् अङ्गे नियतप्राप्तस्य प्रधानद्वयसम्बन्धस्य अन्यतरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः इति वक्तव्यम्'।

तन्त्रवार्तिककार कुमारिलभट्ट परिसंख्या का लक्षण करते हुए कहते हैं– 'तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते' अर्थात् एक समय में युगपत् विधियों के प्राप्त होने पर अन्य का निवारण करने वाली विधि परिसंख्या विधि है। अर्थसंग्रहकार लक्षण करते हैं– 'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः' अर्थात् दो विधानों के एक साथ प्राप्त होने पर दोनों में से किसी एक की निवृत्ति कराने वाली विधि का नाम परिसंख्या विधि है। मीमांसा मंजरी में लक्षण करते हैं– 'एकस्मिन् अङ्गिनि उभयोरङ्गयोः अङ्गिद्वये एकस्या वा अङ्गस्य समुच्चित्यप्राप्तौ इतरनिवर्तको विधिरिति वा परिसंख्याविधिरित्युच्यते' अर्थात् एक ही अङ्ग में दो अङ्गों के प्राप्त होने पर जो अत्यन्त समुचित हो उसे प्राप्त कराना तथा अन्य का निवृत्ति कराने वाली विधि

परिसंख्या विधि है। मीमांसा परिभाषा में परिसंख्या विधि का लक्षण बताते हैं– 'द्वयोः समुच्चित्य प्राप्तावितरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः' अर्थात् जब एक ही लक्ष्य में समुदित रूप से दो कार्यों की प्राप्ति होती है तब उनमें से एक की निवृत्ति की बोधक विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं।

परिसंख्या विधि का उदाहरण है– 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' अर्थात् पंच नख वाले पाँच जीव ही भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य है। इस वाक्य का सामान्य अर्थ लेने पर ज्ञात होता है कि यहाँ तो पंचनख वाले पाँच जीव खाने योग्य हैं लेकिन जो क्रिया व्यक्ति को रागतः (स्वभावतः) प्राप्त हो उसे शास्त्र द्वारा विधान करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु किसी–किसी शास्त्र में मांसाहार के लिए भी विधान प्राप्त होता है जैसे वाल्मीकि विरचित रामायण में एक श्लोक प्राप्त होता है जिसमें पाँच जीवों को खाने की बात कही गयी है–

> पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
> शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः।।

इसी प्रकार देवलस्मृति में भी कहा गया है –

> पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
> गोधा कूर्मः शशः खड्गः शल्यकश्चेति ते स्मृताः।।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार 'भक्ष्याः पंचनखाः सेधा गोधा शशाः कच्छपशल्लकाः' इन पाँच जीवों का भक्षण करना चाहिए। मनुस्मृति भी पाँच जीवों को खाने का विधान करता है– 'श्वाविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा। भक्ष्यान् पंचनखेष्वाहुः' इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों द्वारा घड़ियाल, कच्छप, खरगोश, गैंडा एवं मछली इन पाँच जीवों के भक्ष्य का विधान प्राप्त हुआ। इस प्रकार मनुष्य को रागतः तथा शास्त्रतः मांसाहार का विधान प्राप्त होता है।

परिसंख्या का शाब्दिक अर्थ होता है– व्यावर्तन कराने वाली बुद्धि। पुनः 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' इस वाक्य द्वारा पञ्चनख वाले पाँच जीवों के भक्षण के विधि का परिसंख्या विधि द्वारा विधान करने का कोई औचित्य ही नहीं प्राप्त होता क्योंकि इसका विधान तो शास्त्रतः एवं रागतः प्राप्त है यह पूर्व में ही बता दिया गया। इस प्रकार 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य द्वारा पञ्चनख वाले पाँच जीवों से अतिरिक्त अन्य जीवों के भक्षण का निषेध किया गया है– 'इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसङ्ख्याविधिः'। वस्तुतः 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य सामान्यतया मांसभक्षण का विधान करता है तथा यहाँ नियमविधि भी नहीं हो सकती है क्योंकि इस वाक्य से एक ही काल में पञ्चनखभक्षण एवं अपञ्चनखभक्षण स्वभावतः प्राप्त हो रही है यहाँ किसी एक पक्ष में भक्षण की अप्राप्ति नहीं है अतः पक्षविशेष में अप्राप्त की प्राप्ति कराना नियम विधि है इसलिए यहाँ नियम विधि नहीं हो सकती– 'पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः, पक्षेऽप्राप्त्यभावात्, नापि नियमपरमिति'। अतः यह निश्चित हुआ कि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य परिसंख्या विधि का उदाहरण है न कि नियम विधि का। परिसंख्या विधि के भी दो भेद होते हैं– श्रौती एवं लाक्षणिकी।

26.4.1 श्रौती परिसंख्या

परिसंख्या विधि को भलीभाँति समझने के लिए उसके दो भेदों को समझना आवश्यक है श्रौती एवं लाक्षणिकी। इनमें से प्रथम भेद श्रौती परिसंख्या है जिसमें व्यावर्तक शब्द

साक्षात् प्रत्यक्ष होता है वह श्रौती परिसंख्या होती है। इस परिसंख्या में व्यावर्तक शब्द का ज्ञान अभिधा से ही हो जाता है इसके लिए अन्य किसी शब्दशक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती। श्रौती परिसंख्या का उदाहरण है– 'अत्र ह्येवावपन्ति' अर्थात् 'यहाँ पर (पवमान स्तोत्र में) ही आवाप करते हैं'। इस वाक्य में 'एव' शब्द द्वारा पवमान स्तोत्र से अतिरिक्त अन्य स्तोत्रों का व्यावर्तन किया गया है– 'एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्'। यहाँ 'एव' शब्द प्रत्यक्षश्रुत है। प्रत्यक्षमात्र से ही ज्ञात हो जाता है कि 'एव' शब्द से अन्य स्तोत्रों का व्यावर्तन हो जाता है– 'यत्रावापेन वैकृतसंख्या पूरणीया स्यात् तत्र पवमान एव प्राकृतमन्त्राणां गायत्र्यादोच्छन्दस्कानां द्विस्त्रिरभ्यासेन वैकृतसंख्यापूरणं कार्यम्। न तु स्तोत्रान्तरे तथाविधाभ्यासः कार्यो नापि मन्त्रान्तरसन्निवेशरूप आवापः। एवं यत्रोद्वापेन वैकृतसंख्यास्क्षणीया तत्रापि पवमानस्तोत्रादेव गायत्र्यादिच्छन्दस्कानां कासांचिदृचां परित्यागः कर्त्तव्यो न तु स्तोत्रान्तरादिति भावः इति'।

26.4.2 लाक्षणिकी परिसंख्या

परिसंख्या का दूसरा भेद है लाक्षणिकी परिसंख्या। इस परिसंख्या में व्यावर्तक शब्द साक्षात् नहीं होता है अपितु लक्षणा से कल्पना करनी पड़ती है। जैसे– 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में ऐसा कुछ प्रत्यक्षश्रुत नहीं है जो व्यावर्तन का बोध करा सके। व्यावर्तन के लिए लक्षणा की कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि प्रस्तुत वाक्य से मांसभक्षण की निवृत्ति का बोध न होकर प्रवृत्ति का ही बोध हो रहा है। चूँकि यह वाक्य मांसभक्षण के व्यावर्तन के लिए प्रयुक्त है अतः मांसभक्षण से व्यावर्तन के लिए लक्षणा की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य से 'पञ्चनख वाले पाँच पशुओं का भक्षण करना चाहिए' का व्यावर्तन कर पञ्चनख वाले पाँच जीवों एवं उनसे अतिरिक्त अन्य जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए यह अर्थ लक्षणा से ही ग्राह्य है। अतः उक्त अर्थ वाक्य का वाच्यार्थ न होकर कल्पित अर्थ है इसीलिए यहाँ तीन दोष प्राप्त होते हैं–

1. श्रुतहानि
2. अश्रुतकल्पना एवं
3. प्राप्तबाध

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थकल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा।।

श्रुतहानि दोष –'विधिघटितवाक्यस्य हि विधानं व्यापारः स त्यजत इति श्रुतहानिः' अर्थात् वाक्य द्वारा जो व्यापार विहित किया जाता है उसका त्याग करना श्रुतहानि दोष है। प्रस्तुत वाक्य 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' से पञ्चनख वाले पाँच जीवों के भक्षण का विधान प्राप्त हो रहा है लेकिन लक्षणा करने पर जो अर्थ ज्ञात होता है अर्थात् पञ्चनख वाले पाँच जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए, इससे उस अर्थ का परित्याग करना पड़ता है अतः यहाँ श्रुतहानि नाम का प्रथम दोष है– 'श्रुतस्य शब्दस्य प्रतिपन्नार्थस्य हानः परित्यागः'।

अश्रुतकल्पना दोष –'वर्जनबोधनञ्च नञ्घटितवाक्यस्य व्यापारः। सोऽत्र स्वीक्रियत इति अन्यार्थस्य कल्पना इति अश्रुतकल्पना' अर्थात् वाक्यार्थ में वर्जनपरक बोध एवं नञ्युक्त व्यापार होकर अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ अश्रुतकल्पना नाम का दोष होता है। जैसे– 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य में पञ्चनख वाले पाँच जीवों एवं

उनसे अतिरिक्त अन्य जीवों के मांसभक्षण की निवृत्ति अश्रुतकल्पना है क्योंकि प्रस्तुत वाक्य से इस प्रकार के अर्थ की कोई कल्पना ही नहीं होती है– 'अश्रुतस्य शब्दाप्रतीतार्थस्य कल्पना'।

प्राप्तबाध दोष –'रागतः प्राप्तस्य अपञ्चनखभक्षणस्य बाधनं क्रियत इति प्राप्तबाधः' अर्थात् रागतः प्राप्त अपञ्चनख जीवों के मांसभक्षण का निषेध कर देना प्राप्तबाध नाम का तृतीय दोष है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में किसी भी जीव के मांसभक्षण का निषेध प्राप्त नहीं है लेकिन रागतः, शास्त्रतः एवं प्रमाणान्तर से प्राप्त पञ्चनखभक्षण एवं अपञ्चनखभक्षण का बाध लक्षणा की कल्पना से प्राप्त होता है– 'प्राप्तस्य च अपञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात्'। श्रुतहानि एवं प्राप्तबाध दोष समान नहीं हैं दोनों में अन्तर है जैसे– श्रुतहानि में वाक्य द्वारा अभिधा से जो अर्थ प्राप्त होता है उसका परित्याग किया जाता है किन्तु प्राप्तबाध में रागतः अथवा प्रमाणान्तर से प्राप्त का परित्याग होता है– 'प्राप्तस्य प्रमाणविशेषेण कर्त्तव्यतया प्रतीतस्य बाधो व्यवहारव्यावर्तनमित्यर्थः'। पञ्चनख अथवा अपञ्चनख जीवों का भक्षण तो मनुष्य को रागतः एवं शास्त्रतः प्राप्त है इसमें प्रवृत्ति के लिए किसी अन्य विधिवाक्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु इनका भक्षण नहीं करना चाहिए यह बतलाने के लिए 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह वाक्य प्रवृत्त होता है। इस नियम से पञ्चनख वाले पाँच जीवों से अतिरिक्त अन्य सभी पञ्चनख जीवों एवं अपञ्चनख जीवों के भक्षण का बाध कर दिया गया है– 'दोषत्रयञ्च स्वार्थहानिः (श्रुतहानिः) परार्थस्वीकारः (अश्रुतकल्पना) प्राप्तबाधश्चेति। विधिशब्दघटितवाक्यस्य हि विधानं व्यापारः। स त्यज्यते। वर्जनबोधनं च नञ्घटितवाक्यस्य व्यापारः। सोऽनेन स्वीक्रियते। प्राप्तस्य पञ्चातिरिक्तपञ्चनखस्य बाधनं क्रियते इति। इदं च दोषत्रयं शाब्यामेव परिसंख्यायाम्। तत्रापि लाक्षणिक्यामेव, न तु श्रौतपरिसंख्यास्थले'।

श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध इन तीनों दोषों में श्रुतहानि एवं अश्रुतकल्पना ये प्रथम दो दोष शब्दनिष्ठ होते हैं। श्रुतहानि दोष में शब्दनिष्ठता स्पष्ट है क्योंकि शब्द के अभिधाशक्ति से प्राप्त वाच्यार्थ का ही बाध किया जाता है जो कि शब्दनिष्ठ ही है। अश्रुतकल्पना में अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति रूप प्राप्त अर्थ का आधार भी शब्दनिष्ठ ही है क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य से प्राप्त अर्थ के स्थान पर अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति लक्षणा से होती है लेकिन लक्षणा भी शब्द को आश्रित करके ही प्रवृत्त होती है अतः अश्रुतकल्पना दोष भी शब्दनिष्ठ है। किन्तु तृतीय दोष प्राप्तबाध अर्थनिष्ठ दोष है क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य का अर्थ हुआ पञ्चनख वाले पाँच जीवों का भक्षण करना चाहिए। मनुष्य तो रागतः एवं शास्त्रतः भी इस व्यवहार में प्रवृत्त होता ही है। अतः मांसभक्षण की प्रवृत्ति के लिए इस वाक्य की आवश्यकता नहीं। पुनः पञ्चनख एवं अपञ्चनख जीवों के मांसभक्षण का बाध करने के लिए भी शब्दाश्रित होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विषय का अर्थ से बोध हो जाने पर शब्द की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि यह समस्त विश्व शब्द एवं अर्थ रूप है। इस प्रकार यह तृतीय दोष अर्थनिष्ठ हुआ।

26.5 विनियोग विधि

मीमांसा दर्शन द्वारा निर्देशित चतुर्विध विधियों में द्वितीय एवं प्रमुख विधि विनियोग विधि है। यह अंग एवं अंगी के मध्य होने वाले सम्बन्ध को बताती है यह द्रव्यदेवतादि अंगों एवं होमादि अंगी के मध्य के सम्बन्ध का बोध कराती है– 'अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको

विधिर्विनियोगविधिः'। इसका उदाहरण है– 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दधि से होम करता है। यहाँ 'दध्ना' में तृतीया के द्वारा दधि अंग का तथा जुहोति से अंगी (अग्निहोत्रं जुहोति) के सम्बन्ध का विधान किया गया है– 'सा हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते दध्ना होमं भावयेदिति' इसलिए यहाँ विनियोग विधि है। विनियोग विधि जिनकी सहायता से अंगत्व का बोध कराती है वे संख्या में छः प्रमाण हैं– 1. श्रुति 2. लिंग 3. वाक्य 4. प्रकरण 5. स्थान एवं 6. समाख्या। इनका संक्षिप्ततः विवेचन प्रस्तुत है श्रुत्यादि षट् प्रमाण –

श्रुति –जो विनियोग काल में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाली है वह श्रुति है– 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'। यह श्रुति मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है– 1. विधान करने वाली लिङ्गादि श्रुति को विधात्री कहते हैय यथा– दध्ना जुहोति एवं ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत में जुहोति एवं यजेत विधात्री श्रुति है। 2. अभिधान करने वाली व्रीह्यादि श्रुति को अभिधात्री कहते हैंय यथा– व्रीहीन् अवहन्ति एवं व्रीहीन् प्रोक्षति में व्रीहि अभिधात्री श्रुति है। 3. विनियोग करने वाली श्रवणमात्र से अङ्गाङ्गिभाव बोधक श्रुति को विनियोक्त्री कहते हैं। शास्त्र भी प्रमाणित करते हैं कि –

> अभिधात्री श्रुतिः काचिद्विनियोक्त्र्यपरा तथा।
> विधात्री च तृतीयोक्ता प्रयोगो यन्निबन्धनः। तन्त्रवार्तिके

त्रिविधा श्रुति में प्रथम श्रुति विधात्री है यह भी अवान्तर भेद से तीन प्रकार की होती है– विभक्तिरूपा अर्थात् जहाँ विभक्ति के श्रवण से अंगत्व का बोध होता है जैसे– 'व्रीहिभिर्यजेत' यहाँ व्रीहिभिः द्वारा तृतीया विभक्ति के श्रवण से व्रीहि याग का अंग है ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' में अरुणया एवं गवा दोनों का तृतीया में प्रयोग हुआ है, लेकिन यहाँ पर अरुणया के अमूर्त होने से क्रयण सम्भव नहीं अतः गो का अंगत्व सिद्ध है। 'व्रीहिन् प्रोक्षति' में व्रीहि के द्वारा द्वितीया विभक्ति के श्रवण से अंगत्व बोधित होता है। प्रोक्षण के अपूर्वयुक्त होने के कारण व्रीहिप्रोक्षण के विना यागानुष्ठान से अपूर्व की उत्पत्ति सम्भव नहीं इसलिए व्रीहिन् का अंगत्व सिद्ध है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति के श्रवण से अंगत्व का बोध होता है। यथा– 'यदाहवनीये जुहोति' यहाँ आहवनीये द्वारा सप्तमी विभक्ति के श्रवण से आहवनीय अग्नि को होम का अंग माना गया है। इसी प्रकार अन्य विभक्तियों के द्वारा भी विभक्ति श्रुति से अंग का बोध करना चाहिए। विधात्री श्रुति के समानाभिधान एवं एकपदरूपा श्रुति को बताते हुए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– 'पशुना यजेत' यहाँ पशुना पद में टा के श्रवण से करण कारक, एकत्व (एकवचन) एवं पुंस्त्व का बोध हो रहा है अतः यह समानाभिधान (एकाभिधान) है तथा यजेत में आख्यात के भावना एवं एकत्व संख्या का बोध होता है यहाँ याग अंगी एवं एकत्व संख्या अंग है अतः यहाँ एकपदश्रुति है– 'पशुना यजेत' इत्यत्र एकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। तयोरेव एकत्वपुंस्त्वयोः एकपदश्रुत्या पशुद्रव्याङ्गत्वं भवति। यह श्रुति लिंगादि से सर्वदैव प्रबल है क्योंकि विनियोग के लिए इसे अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु लिंगादि को अन्य प्रमाणों की प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है तथा ये साक्षात् विनियोग नहीं कर सकते किन्तु श्रुति प्रत्यक्षतः विनियोग कर सकती है इसलिए यह श्रुति प्रमाण सभी से प्रबल है।

लिंग –शब्दों की शक्ति को लिंग कहते हैं– 'शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्'। इस शक्ति से शब्दगत सामर्थ्य एवं अर्थगत सामर्थ्य सिद्ध होता है– 'तेन शब्दगतं सामर्थ्यम् अर्थगतञ्च तदिति सिध्यति'। यह सामर्थ्य रूढि अर्थ वाला होता है और इसका रूढि

अर्थ होना ही समाख्या से भेद है क्योंकि समाख्या यौगिक अर्थ का निर्देशन करती है। लिंग का उदाहरण है– 'बर्हिर्देवसदनं दामि' अर्थात् देवों के सदन बर्हि को काटता हूँ। यहाँ लिंग के बलवान् होने से रूढि अर्थ ग्रहण किया जाता है जहाँ कुश का छेदन होता है। अतः कुशछेदन क्रिया का अंगत्व ग्राह्य है। यदि समाख्या से अर्थ का बोधन करें तो बर्हिर्दामि का अर्थ उलप आदि तृणों में जायेगा जो अभिप्रेत नहीं है– 'तेन बर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वं तस्य। बर्हिर्दामि इति लिङ्गात् तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। यह लिंग अन्य वाक्यादि प्रमाणो से बलवान् है। क्योंकि 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह मन्त्र लिंग प्रमाण के द्वारा पुरोडाश सदनकरण के प्रति अंग होता है लेकिन वाक्यादि प्रमाण नहीं।

वाक्य –विनियोग के सहायकभूत छः प्रमाणों में से तीसरे प्रमाण के रूप में वाक्य है। वाक्य का लक्षण है– 'समभिव्याहारो वाक्यम्' अर्थात् अंगांगिवाचक पदों का सहोच्चारण वाक्य कहलाता है। अर्थालोक टीका में स्पष्ट किया है– 'शेषशेषिवाचकपदयोः अङ्गाङ्गिवाचकपदयोस्सहोच्चारणं वाक्यमत्राभिप्रेतम्।' साध्यत्वादि के वाचक द्वितीयादि के अभाव में भी समभिव्याहार का ग्रहण हो जाता है। वाक्य का उदाहरण है– 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' अर्थात् जिस यजमान की जुहू पलाश की बनी होती है वह अपना अपयश नहीं सुनता है। यहाँ पर्णता का जुहू के साथ अंगत्व है। पर्णता का उच्चारण व्यर्थ नहीं है क्योंकि पर्णता से सम्बद्ध जुहू के साथ ही अपूर्ण है अन्यथा किसी भी काष्ठ से जुहू बनायी जा सकती है इसलिए यहाँ पर 'पर्णतयावत्तहविधरिणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदेति' अर्थात् विभक्त की गयी हवि के धारण द्वारा पलाश से जुहू के अपूर्व की भावना करेंय यह वाक्यार्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार पलाश से निर्मित जुहू ही अपूर्व का साधन बनेगा अन्य नहीं। यहाँ अवत्त शब्द भी ग्रहण करना चाहिए अन्यथा स्रुवा आदि में पर्णता की अतिव्याप्ति होने लगेगी। यह पर्णता केवल प्रकृति यागों में ही गृहीत होती है विकृति यागों में नहीं। प्रकृति याग उसे कहते हैं जिसमें सभी अंगों का ग्रहण होता है– 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' जैसे– दशपूर्णमासादि याग। जिस याग में सभी अंगों का उपदेश नहीं होता है वह विकृति याग है– 'यत्र न सर्वाङ्गोपदेश सा विकृतिः' जैसे– सौर्यादि याग। सौर्यादि यागों में कई अंगों की प्राप्ति अतिदेश से हो जाती है। यह वाक्य प्रकरणादि प्रमाणों से बलवान् है क्योंकि 'इन्द्राग्नी इदं हविः' यह मन्त्र वाक्य प्रमाण से 'दर्श' याग की अंगता बताता है न कि प्रकरण प्रमाण से दर्शपूर्णमास की अंगता।

प्रकरण –अंग एवं अंगी की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं– 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्'। इसका अन्य भी लक्षण प्राप्त है जैसे– 'अङ्गप्रधानोभयवाक्यगता आकाङ्क्षा प्रकरणम्', 'वाक्यैकवाक्यता प्रकरणम्', 'अङ्गवाक्यतासापेक्षं प्रधानवाक्यं प्रकरणम्' इत्यादि। इस प्रकार परस्पर दो वाक्यों की आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। जैसे कि 'समिधो यजति' इस वाक्य के श्रवण से साधनमात्र का बोध होता है फल का नहीं, तथा 'समिद्यागेन भावयेत्' के श्रवण से भी उपकार्य फल की आकांक्षा प्राप्त होती है। इसी प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् दर्श एवं पूर्णमास से स्वर्ग की भावना करें का श्रवण होता है लेकिन किस प्रकार करें इस उपकारक अंग की आकांक्षा रहती है। इस प्रकार उपकार्य एवं उपकारक की परस्पर आकांक्षा अथवा अंग एवं अंगी की परस्पर आकांक्षा ही प्रकरण है अतः प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग होते हैं– 'इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वं सिद्धम्।

यह प्रकरण मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है– 1. महाप्रकरण एवं 2. अवान्तरप्रकरण। जहाँ महाप्रकरण का लक्षण है– 'मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं

महाप्रकरणम्' अर्थात् मुख्यभावना से सम्बद्ध प्रकरण को महाप्रकरण कहते हैं। यहाँ मुख्य भावना कहने का आशय स्वर्ग रूपी फल से है– 'फलं भाव्यं यस्यां भावनायाम्'। इस महाप्रकरण से ही प्रयाजादि दर्शपूर्णमास के अंग माने जाते हैं। यह महाप्रकरण केवल प्रकृति याग में ही प्रवृत्त होता है विकृति याग में नहीं है क्योंकि विकृति याग में उभयाकांक्षा अतिदेश से शान्त हो जाती है। द्वितीय प्रकरण अवान्तर प्रकरण का लक्षण है– 'अङ्गभावनासम्बन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्'। इस अवान्तर प्रकरण से अभिक्रमण क्रियाएँ प्रयाजादि के प्रति अंग मानी जाती है। 'अभिक्रमण– होमकाले आहवनीयमभितः सञ्चरणम्। होमकाले आहवनीयसमीपे वर्तनमिति यावत्'। इस अंगत्व का ज्ञान संदंश के द्वारा होता है। इस संदंश के अभाव में प्रयाजादि महाप्रकरण एवं अभिक्रमणादि अवान्तर प्रकरण में कोई भेद न होने से फलभावना का इतिकर्त्तव्यता के रूप में ग्रहण होने लगेगा तथा अंगी भी अंग की तरह समझा जायेगा। यह संदंश इस प्रकार है कि जब प्रधान याग के किसी एक अंग का विधान करते समय उससे सम्बद्ध दो अंगों के मध्य किये जाने वाले विधान को संदंश कहते हैं– 'एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः'। जैसे अभिक्रमण। महाप्रकरण एवं अवान्तर प्रकरण से साक्षात् क्रिया ही विनियुक्त होती है। यह प्रकरण स्थानादि प्रमाणों से प्रबल है क्योंकि 'अक्षैर्दीव्यति' एवं 'राजन्यं जिनाति' कर्मों में जुआ खेलना प्रकरण प्रमाण से राजसूय के अंग माने जाते हैं स्थान प्रमाण से अभिषेचनीय क्रिया के अंग नहीं।

स्थान –विनियोग विधि के पंचम प्रमाण स्थान का लक्षण है– 'देशसामान्यं स्थानम्' अर्थात् देश की समानता को स्थान कहते हैं। स्थान के दो भेद हैं– 1. पाठसादेश्य एवं 2. अनुष्ठानसादेश्य। स्थान एवं क्रम दोनों एक ही हैं। यह पाठसादेश्य भी दों रूपों में विभाजित है– 1. यथासंख्यपाठ एवं 2. सन्निधिपाठ। इनमें से यथासंख्यपाठ का उदाहरण इस प्रकार है– 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' तथा 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इस प्रकार से दो वाक्य प्राप्त हैं इनके ठीक बाद 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' एवं 'वैश्वानरो अजीजनत्' याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ होता है। ऐसे में किस वाक्य का किस मन्त्र से सम्बन्ध है इसके लिए यथासंख्यपाठ के द्वारा 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' का 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' यह मन्त्र अंग है तथा 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत' का 'वैश्वानरो अजीजनत्' यह मन्त्र अंग है। ऐसे इसलिए स्वीकार किया गया है क्योंकि कैमर्थ्याकांक्षा होने पर समान देश में प्रथम कर्म के साथ प्रथम मन्त्र की विद्यमानता है एवं द्वितीय कर्म के साथ द्वितीय मन्त्र की। सन्निधि पाठ से प्रकृति यागों के अनुवाद में कथित एवं विकृतियागों के संदंशपतित अंग विकृतियागों के अंग होते हैं जैसे– आमन होम। यह स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल होता है क्योंकि सुन्धनमन्त्र पाठसादेश्य से सान्नाय्यपात्र का अंग है न कि समाख्या से पुरोडाशपात्रों का।

समाख्या –विनियोग विधि के अन्तिम प्रमाण के रूप में समाख्या का उल्लेख प्राप्त है इसका लक्षण है– 'समाख्या यौगिकः शब्दः' अर्थात् यौगिक शब्दों को समाख्या कहते हैं। यह समाख्या दो भेदों वाली है– 1. वैदिक समाख्या से 'होतृचमसः' वाक्य से होता चमसभक्षण का अंग माना जाता है तथा 2. लौकिक समाख्या से 'आध्वर्यवम्' वाक्य से अध्वर्यु तत्तत् कर्मों का अंग माना जाता है।

इस प्रकार विनियोग विधि के छः सहायकभूत अंग श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या विनियोग विधि की सिद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं तथा अंग के अंगी से सम्बन्ध के ज्ञान में सहायक होते हैं।

26.6 प्रयोग विधि

जिस विधि से कर्म सम्पादन में शीघ्रता का बोध होता है वह प्रयोग विधि है– 'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः'। यह विधि अंग एवं अंगी में एकवाक्यता का बोध कराने के कारण प्रधानविधि है। प्रयोग विधि के द्वारा अंग एवं अंगी का अनुष्ठान शीघ्रतापूर्वक होता है। क्रम के नियत होने के कारण ही अनुष्ठान में शीघ्रता होती है जिससे 'यह क्रिया इसके द्वारा अनुष्ठित हुई' इस प्रकार के व्यवहार का अवकाश नहीं मिलता। क्रमों के नियत न होने पर किस क्रिया का सम्पादन पहले एवं किस क्रिया का बाद में करना है? ऐसा संशय उपस्थित होगा। इसीलिए प्रयोग विधि अनुष्ठानों के अविलम्ब सम्पादन हेतु विशेष प्रकार का नियत क्रम विधान करती है– 'अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते'। अंगों के नियत क्रम का विधान करने के कारण ही प्रयोग विधि का एक दूसरा लक्षण भी किया जाता है– 'अङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्' अर्थात् अंगों के क्रमबोधक विधि को प्रयोग विधि कहते हैं। क्रम का अर्थ पौर्वापर्यभाव (पूर्व एवं उत्तर भाव) अथवा एक विशेष प्रकार का विस्तार है। क्रम का बोध कराने वाले छः प्रमाण हैं– 1. श्रुति 2. अर्थ 3. पाठ 4. स्थान 5. मुख्य एवं 6. प्रवृत्ति। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है–

श्रुति –क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। इसके दो भेद हैं– 1. केवलक्रमबोधक एवं 2. क्रमविशिष्ट पदार्थबोधक। प्रथम श्रुति का उदाहरण करते हैं 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' अर्थात् वेद करके वेदी का निर्माण करते हैं। यहाँ 'क्त्वा' प्रत्यय के प्रयोग से वेद की पूर्व क्रिया ज्ञात हुई तथा वेदी की उत्तर क्रिया। वेद का अर्थ कुश से मार्जन (झाड़ने) की क्रिया है– 'वेदो नाम सम्मार्जनार्थो दर्भमुष्टिविशेषः'। इस प्रकार केवलक्रम श्रुति से यहाँ क्रममात्र का बोध होता है। द्वितीय श्रुति है क्रमविशिष्ट पदार्थबोधक श्रुति। इसका उदाहरण करते हैं 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्ष' अर्थात् होता प्रथमतया भक्षण करे। यहाँ होता के प्राथम्यरूप क्रम से भक्षणरूप पदार्थ का बोध होता है। अतः होता के सोमभक्षण के अनन्तर ही अन्य उद्गातादि भक्षण करें, ऐसा क्रम प्राप्त होता है। यह श्रुति अर्थादि प्रमाणों से बलवती है क्योंकि यह क्रम का साक्षात् बोध कराती है जैसे कि अश्विनी का पाठक्रम से तृतीय स्थान होने पर भी 'अश्विनो दशमो गृह्यते' श्रुतिवचन से दशम स्थान पर ग्रहण होता है।

अर्थ –जहाँ प्रयोजनवशात् क्रम का निर्णय होता है वहाँ अर्थक्रम होता है– 'यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः'। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यवागूं पचति' ये दो वाक्य प्राप्त हैं इनमें से कौन पूर्व क्रिया एवं कौन उत्तर क्रिया है? ऐसा सन्देह होने पर चूँकि यवागू का पाक होमसिद्धि के लिए किया जाता है अतः 'यवागूं पचति पूर्व कृत्य है तथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' उत्तर कृत्य है। यह अर्थ पाठक्रम से बलिष्ठ है क्योंकि 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यवागूं पचति' में पाठक्रम से निर्धारण करें तो अग्निहोत्र होम के पश्चात् यवागू किया जाये तो प्रयोजन की सिद्धि में बाधा उत्पन्न होगी इसलिए अर्थक्रम से यवागू का पाक पूर्व कृत्य है अतः अर्थक्रम बलिष्ठ है।

पाठ –अनुष्ठान कर्मों के बोधक वाक्यों के क्रम को पाठक्रम कहते हैं– 'पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः'। यह पाठक्रम कर्मों के क्रम का निर्धारण करता है। जिस क्रम से पाठ होता है उसी क्रम से पढ़े जाने पर अर्थ का बोध होता है तथा उसका उसी क्रम से अनुष्ठान भी होता है। यह पाठक्रम 1. मन्त्रपाठ एवं 2. ब्राह्मणपाठ के भेद से दो प्रकार का होता है। आग्नेय एवं अग्नीषोमीय याग में याज्या

एवं आनुवाक्या के पाठ से जो क्रम दिया होता है वह मन्त्रपाठ से निश्चित होता है तथा 'समिधो यजति' एवं 'तनूनपातं यजति' प्रयाजयागों के क्रम में ब्राह्मणपाठ से निर्धारण होता है। इन दोनों पाठों में मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान होता है क्योंकि ब्राह्मणपाठ अनुष्ठान से पूर्व ही 'इदं कर्त्तव्यम्' कहकर पृथक् हो जाता है लेकिन मन्त्रपाठ अनुष्ठान के समय व्यवहृत होता है इसलिए यह मन्त्रपाठ अन्तरंग है।

स्थान –स्थान का अर्थ है उपस्थित होना और यह कर्तव्यता का ज्ञान कराता है– 'उपस्थितिः कर्त्तव्यताज्ञानम्'। जिसका जो स्थान निश्चित है उसके स्थान पर यदि किसी और का सम्पादन होता है तो उससे ठीक पूर्व सम्पन्न होने वाले कर्म के अनुष्ठान हो जाने पर वही उपस्थित होता है अतः उसका पहले अनुष्ठान करना आवश्यक है– 'यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। जैसे कि साद्यस्क्र याग में अग्नीषोमीय, सवनीय एवं आनुबन्ध्य में से सवनीय का पूर्व में स्थान प्राप्त होने पर पहले सवनीयपशु का अनुष्ठान करना चाहिए क्योंकि आश्विन ग्रहण के पश्चात् सवनीय की ही प्रथम प्राप्ति है– 'अश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इत्याश्विनग्रहणान्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात् प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम्'।

मुख्य –प्रधान–अंगी के क्रम से क्रमानुसार अंगों के अनुष्ठान का जो क्रम है उसको मुख्यक्रम कहते हैं– 'प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः'। जिस क्रम से अंगी का अनुष्ठान होता है उसी क्रम से अंग का अनुष्ठान होने पर सभी अंग अपने अंगी के तुल्य होते हैं अर्थात् समान होते हैं। भिन्न क्रम मानने पर अंग एवं अंगी के अनुष्ठान में व्यवधान उत्पन्न होता है। इसीलिए अंगों का क्रम अंगी के क्रमानुसार होना चाहिए। अत एव प्रयाजानुष्ठान से अवशिष्ट घृतादि का प्रथमतः आग्नेय का अभिषेक होता है तदनन्तर ऐन्द्र का। क्योंकि आग्नेय याग एवं ऐन्द्र याग में पौर्वापर्य निर्दिष्ट है। यह मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल होता है क्योंकि पाठक्रम से केवल स्वाध्याय के द्वारा क्रम का निर्धारण हो जाता है किन्तु मुख्यक्रम में प्रमाणान्तर की अपेक्षा होने पर बिलम्ब से ज्ञात होता है। यह मुख्यक्रम प्रवृत्ति से बलिष्ठ है क्योंकि प्रवृत्ति क्रम में अंग अंगी से दूर हो जाते हैं लेकिन मुख्यक्रम में अंग एवं अंगी निकट आ जाते हैं।

प्रवृत्ति –प्रयोग विधि का अन्तिम प्रमाण प्रवृत्ति है। इसका लक्षण है– 'सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्त्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः' अर्थात् प्रधान क्रियाओं के साथ साथ अनुष्ठित होने पर यदि सन्निपत्योपकारक अंगों की आवृत्ति से अनुष्ठान की अपेक्षा होने पर प्रथम–द्वितीयादि क्रियाओं का जो क्रम स्वीकृत होता है उसे प्रवृत्ति क्रम कहते हैं। उदाहरण के लिए प्राजापत्य याग में प्राप्त अंगों के अनुष्ठान में होता है। जैसे कि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस वाक्य द्वारा पशुयागों एवं उनके अंगों का उपाकरण, नियोजनादि का अनुष्ठान साथ साथ प्राप्त होता है। वस्तुतः प्राजापत्य पशुयाग के उपाकरण नियोजनादि का साथ साथ सम्पन्न होना असम्भव है इसलिए प्रथम क्रिया के सम्पन्न होते ही अविलम्ब दूसरी क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए। इस प्रकार का क्रम निर्धारण प्रवृत्ति क्रम से होता है। यह प्रवृत्ति क्रम श्रुत्यादि प्रमाणों से दुर्बल होता है।

इस प्रकार इन श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति छः प्रमाणों के वर्णन से प्रयोग विधि सम्पन्न होती है।

26.7 अधिकार विधि

मीमांसा दर्शन में विधि के मुख्य चतुर्भेदों में अन्तिम विधि के रूप में अधिकार विधि का ग्रहण किया गया है। यह विधि कर्मों के सम्पादन से प्राप्त होने वाले फल के अधिकारी का निर्धारण करती है। इसका लक्षण इस प्रकार है– 'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः' अर्थात् कर्म से उत्पन्न स्वर्गादि फलों के स्वामी अर्थात् अधिकारी का बोध कराने वाली विधि का नाम अधिकार विधि है। यह अधिकार विधि 'यजेत स्वर्गकामः' आदि वाक्यों से प्रवृत्त होती है। जैसे कि 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' अर्थात् जिस अग्न्याधान करने वाले पुरुष का घर अग्नि जला दे वह पुरुष क्षीण हुई अग्नि को आठ कपाल पुरोडाश निर्वपन करे। इस विधि से पुरोडाश निर्वपन करने में अग्न्याधान करने वाले पुरुष का स्वामित्व ग्रहण कर पापक्षय रूपी का अधिकार प्राप्त होता है। कर्मफल के अधिकारी होने का आशय कर्मफल को भोगने वाले से है तथा विधिवाक्यों में कर्त्ता के विशेषण रूप में ग्रहण किया जाने वाला अधिकार कहलाता है। जैसे कि 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत्' अर्थात् स्वाराज्य चाहने वाला राजा राजसूय याग करे। इस विधि के द्वारा स्वाराज्य की इच्छा रखने वाले का राजा (क्षत्रियत्वविशिष्ट पुरुष) होना भी अधिकारी के विशेषण के रूप में कहा गया है। कदाचित् पुरुष के विशेषण के रूप में श्रवण न होने पर भी अधिकारी का विशेषण माना जाता है जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' द्वारा याज्ञिक कर्मों में अर्थज्ञानवान् होना आवश्यक है इसलिए विद्या का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर तत्तत्प्रकरण में स्वामित्व एवं अधिकार आदि का विधान प्राप्त होता है।

26.8 सारांश

अर्थसंग्रह में वेद को अपौरुषेय कहते हुए उसे पाँच भागों में विभाजित किया गया है– विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। वेद के द्वितीय भाग मन्त्र का वर्णन करते समय ग्रन्थकार ने मन्त्र के सम्यक्तया अवबोधन के लिए अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि का उल्लेख किया है। तीनों में अंशमात्र का अन्तर होने के कारण प्रायः तीनों के विषय अवबोधन में कठिनाई भी होती है। तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने एक श्लोक में तीनों को स्पष्ट रूप से बताया है –

> विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
> तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।।

इस प्रकार जहाँ अत्यन्त अप्राप्त का विधान हो वहाँ अपूर्वविधि होती है, जहाँ पक्ष में अप्राप्त का विधान कराने वाली विधि नियम विधि है तथा एक ही काल में युगपत् के प्राप्त होने पर अन्य की व्यावृत्ति कराने वाली विधि परिसंख्या विधि है। अपूर्व विधि की व्याख्या करते समय 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य के द्वारा अत्यन्त अप्राप्त के स्थान पर अपूर्व विधि द्वारा विधान किया गया है। 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य द्वारा अनेक साधनों के प्राप्त होने पर जो अप्राप्त साधन है उसकी प्राप्ति नियम विधि द्वारा होती है। परिसंख्या के दो भेद होने से श्रौती परिसंख्या में 'अत्र ह्येवावपन्ती' वाक्य द्वारा 'एव' शब्द से अन्यों का व्यावर्तन हो जाता है। परिसंख्या विधि का दूसरा भेद अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखता है क्योंकि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' वाक्य द्वारा पञ्चनख वाले पाँच जीवों एवं उनसे अतिरिक्त अन्य जीवों के मांसभक्षण की निवृत्ति तो हो जाती है लेकिन यहाँ तीन दोष भी प्राप्त हो जाते हैं– श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध। श्रुत अर्थ का

परित्याग करना श्रुतहानि है, जो अश्रुत है उसकी कल्पना करना अश्रुतकल्पना है एवं जो वाक्य द्वारा प्राप्त है उसका बाध कर देना प्राप्तबाध है।

इस प्रकार मन्त्र के 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' इस लक्षण में अर्थ (द्रव्य, देवतादि) के सम्यक् ज्ञान के लिए अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि का भलीभाँति ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि किस वाक्य का क्या अर्थ लेना है इसका निर्धारण प्राप्त अप्राप्त का निर्धारण किये बिना नहीं ग्रहण कर सकते हैं। शब्द किसी एक ही अर्थ का आश्रयण ग्रहण नहीं करते हैं अपितु प्रसंगवश उनका अर्थ बदलता रहता है। इसीलिए मीमांसा दर्शन में एक अन्य शब्दशक्ति 'तात्पर्यशक्ति' की कल्पना की गयी। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वेद के तात्पर्य को समझने के लिए अथवा वेद के प्रतिपाद्य विषय को भलीभाँति समझने के लिए मन्त्र के अंश अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसंख्या विधि को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

26.9 शब्दावली

अग्निहोत्र – अग्नि को उद्देश्य करके सुबह एवं शाम को होने वाला होम।

अपूर्व विधि – विधि की प्रवृत्ति से पहले प्रमाणान्तर से जिस अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, वह अपूर्व विधि है। यथा– अग्निहोत्रं जुहोति।

अश्रुतकल्पना – शब्द से बोध्य के विपरीत अर्थ की कल्पना।

कर्मभेद – याग का भेद। दो– अर्थकर्म एवं गुणकर्म।

दर्शपूर्णमास – दर्श (अमावस्या) और पौर्णमासी तिथियों में क्रमशः सम्पाद्य

यथाक्रम तीन – तीन यागों की समष्टियों के मिलाने पर दर्शपूर्णमास याग सम्पन्न होता है।

धर्म – जो विधिवाक्य से ज्ञात हो तथा इष्ट का साधन हो।

नियमविधि – एक पक्ष में अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाली विधि।

निषेध – अनिष्ट कर्म से परिहार कराने वाला वेद का चतुर्थ भाग।

फलविधि – जिस विधिवाक्य में कर्म के फल का स्पष्ट निर्देश हो।

फलश्रुति – क्रतु के लिए विहित द्रव्य, संस्कार तथा कर्म का फल के साथ सम्बन्ध का श्रवण अथवा कथन।

बाध – अनुष्ठान की निवृत्ति का बोधक।

भूतार्थवाद – यथार्थकथन।

वेद – अपौरुषेय वाक्य जो ज्ञानराशिरूप में विद्यमान है।

श्रुतहानि – शब्द से बोध्य अर्थ का परित्याग।

स्तोत्र – साम मन्त्र से की गयी स्तुति।

26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृत टीका, रामेश्वर शिवयोगी,
2. अर्थमीमांसा हिन्दी व्याख्या एवं भाष्य, हिन्दी भाष्यकार– डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, संस्करण– वि.सं. 2016।

3. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, रामेश्वर शिवयोगी, प्रकाशिका हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 2014।
4. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, अर्थालोक संस्कृत टीका, पट्टाभिराम शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. वाचस्पति मिश्र, वाराणसी,चौखम्भा ओरियण्टालिया, 1990।
5. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, रामेश्वर शिवयोगी, दीपिका हिन्दी व्याख्या, त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामी, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1979।
6. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, सार्थसंग्रहकौमुदी संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थबोधिनी हिन्दी टीका डॉ. दयाशंकर शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2003।
7. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 2016।
8. भारतीय दर्शन, डॉ. नन्द किशोर देवराज, लखनउ, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2002।
9. भारतीय दर्शन, डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005।
10. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009।
11. मीमांसामञ्जरी, र.. तङ्गस्वामी शर्मा, नई दिल्ली, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, 1996।
12. मीमांसा के पारिभाषिक पदों का परिचय, डॉ. किशोरनाथ झा, नई दिल्ली, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2013।

26.11 अभ्यास प्रश्न

1. मीमांसा दर्शन का परिचय देते हुए मन्त्र पर प्रकाश डालें।
2. मन्त्र का परिचय देते हुए अपूर्व विधि को समझाएं।
3. नियम विधि का सोदाहरण प्रतिपादन करें।
4. परिसंख्या विधि पर निबन्ध लिखें।
5. वेद के द्वितीय भाग मन्त्र का महत्त्व समझाएं।
6. श्रुत्यादि षट् प्रमाण कौन–कौन से हैं? संक्षिप्त वर्णन कीजिए।